श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

प्रवचनसार प्रवचन

एकादश भाग

प्रवक्ता :—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

सम्पादक :—

महावीरप्रसाद जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ

प्रकाशक :—

खेमचन्द जी जैन, सर्राफ
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ

प्रथम संस्करण
१०००

[सन् १९६६

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के संरक्षक

(१) श्रीमान् लाला महावीर प्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ
(२) श्रीमती फूलमाला जी, धर्मपत्नी श्री लाला महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की नामावली :—

(१) श्री भंवरीलाल जी जैन पाण्ड्या, झूमरीतिलैया
(२) ,, ला० कृष्णचन्द जी जैन रईस, देहरादून
(३) ,, सेठ जगन्नाथजी जैन पाण्ड्या, झूमरीतिलैया
(४) ,, श्रीमती सोवती देवी जी जैन, गिरिडीह
(५) ,, ला० मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन, मुजफ्फरनगर
(६) ,, ला० प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी, मेरठ
(७) ,, ला० सलेखचन्द लालचन्द जी जैन, मुजफ्फरनगर
(८) ,, ला० दीपचन्द जी जैन रईस, देहरादून
(९) ,, ला० बारूमल प्रेमचन्द जी जैन, मसूरी
(१०) ,, ला० बाबूराम मुरारीलाल जी जैन, ज्वालापुर
(११) ,, ला० केवलराम उग्रसैन जी जैन, जगाधरी
(१२) ,, सेठ गैंदामल दगड़ू शाह जी जैन, सनावद
(१३) ,, ला० मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी, मुजफ्फरनगर
(१४) ,, श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन, देहरादून
(१५) ,, श्रीमान् ला० जयकुमार वीरसैन जी जैन, सदर मेरठ
(१६) ,, मंत्री जैन समाज, खण्डवा
(१७) ,, ला० बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन, तिस्सा
(१८) ,, बा० विशालचन्द जी जैन, आ० मजि०, सहारनपुर
(१९) ,, बा० हरीचन्द जी ज्योतिप्रसाद जी जैन ओवरसियर, इटावा
(२०) श्रीमती प्रेम देवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जैन संघी, जयपुर
(२१) श्रीमती धर्मपत्नी सेठ कन्हैयालाल जी जैन, जियागंज
(२२) ,, मंत्राणी, जैन महिला समाज, गया
(२३) श्रीमान् सेठ सागरमल जी पाण्ड्या, गिरिडीह

(२४) ,, बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी, गिरिडीह

(२५) ,, बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी, गिरिडीह

(२६) श्री सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी, मुजफ्फरनगर

(२७) ,, ला० सुखवीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ, बड़ौत

(२८) श्रीमती धनवंती देवी ध० प० स्व० ज्ञानचन्द जी जैन, इटावा

(२९) श्री दीपचंद जी जैन ए० इंजीनियर, कानपुर

(३०) श्री गोकुलचंद हरकचंद जी गोधा, लालगोला

(३१) दि० जैनसमाज नाई मंडी आगरा

(३२) दि० जैनसमाज जैनमन्दिर नमकमंडी आगरा

(३३) श्रीमती शैलकुमारी ध० प० बा० इन्द्रजीत जी वकील, कानपुर

* (३४) ,, सेठ गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, गया

* (३५) ,, बा० जीतमल शान्तिकुमार जी छाबड़ा, झूमरीतिलैया

* (३६) ,, सेठ शीतलप्रसाद जी जैन, सदर मेरठ

* (३७) ,, सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बडजात्या, जयपुर

* (३८) ,, बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ. सदर मेरठ

* (३९) ,, ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन, सदर मेरठ

× (४०) ,, ला० जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन, सहारनपुर

× (४१) ,, ला० नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस, रुड़की

× (४२) ,, ला० जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन, शिमला

× (४३) ,, ला० बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन, शिमला

नोट:—जिन नामोंके पहले * ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यता के कुछ रुपये आ गये हैं बाकी आने हैं तथा जिनके नामके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनके रुपये अभी नहीं आये, आने हैं।

—:०*०:—

आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज
द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

[१]

मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान ॥

[२]

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥

[३]

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥

[४]

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥

[५]

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ॥

:o :—

प्रवचनसार प्रवचन एकादश भाग

—:०:—

प्रवक्ता :—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक
मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

यह समस्त संसार क्लेशमय है। इससे मुक्त होनेमें ही भलाई है। मुक्त होनेका उपाय क्या है? जो संसार बननेका उपाय है, उसे न किया जाये, यही मोक्षका उपाय है। संसारका उपाय है राग द्वेष, सो राग द्वेष न करना अर्थात् परम समताका परिणाम होना, सो मोक्षका उपाय है। राग द्वेषके विजयका मूल उपाय है, मोहका अभाव करना। सो मोह, राग, द्वेष का न होना, यही मोक्षका उपाय है। इस स्थितिमें आत्माकी रुचि, आत्मा का ज्ञान व आत्माका रमण हो जाता है। सो रत्नत्रय कहिये या राग द्वेष मोहका अभाव कहिये या समता कहिये या परम-समाधिक कहिये, यही श्रामण्य है। श्रामण्य ही मोक्षमार्ग है। वह श्रामण्य सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्रकी एकतासे मिलता है अथवा यों कहो कि तत्त्वार्थश्रद्धान्, आगमज्ञान संयम और आत्मज्ञान इनकी एकतामें मिलता है। यही मोक्षका मार्ग है। इसकी सिद्धि पहिले की जा चुकी है। अब शुभोपयोगका अधिकार चल रहा है। सो यहां बतलाते हैं कि शुभोपयोगी साधु श्रमण तो है, मगर सिद्धोपयोगीसे न्यून दर्जेका है।

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि।
तेसुवि सुद्धुवजुत्ता णिरासवा सासवा सेसा ॥२४५॥

परमागममें मुनि दो प्रकारके कहे गये हैं—एक शुद्धोपयोगी और दूसरे शुभोपयोगी। इन दो तरहके मुनियोंमें शुद्धोपयोगी मुनि तो आश्रवसे रहित हैं और शुभोपयोगी मुनि आश्रवसे सहित हैं।

उपयोगके भेद और उनका प्रयोग— उपयोग तीन प्रकारके होते हैं— (१) अशुद्धोपयोग, (२) शुभोपयोग और (३) अशुभोपयोग अथवा यों कहो कि उपयोग दो ही प्रकारके हैं— (१) शुद्धोपयोग और (२) अशुद्धोपयोग। जो शुद्ध सहज ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वमें उपयोग हो या रागद्वेष रहित होकर शुद्ध ज्ञानमात्रका परिणमन हो, ऐसे उपयोगको शुद्धोपयोग कहते हैं और शुद्ध ज्ञानस्वरूपको छोड़कर अन्य तत्त्वोंमें उपयोग हो तो उसे अशुद्धोपयोग कहते हैं। यह अशुद्धोपयोग दो प्रकारका है— (१) शुभोपयोग और (२) अशुभोपयोग। अशुभोपयोगमें तो जीवका उपयोग विषय कषाय आदिमें रहता है और शुभोपयोगमें धर्मात्मा पुरुषोंकी सेवा, विनय, सत्संग

भक्ति आदिके परिणाम होते हैं। शुभोपयोग तो सिद्धमें होता नहीं। यदि विषयकषायोंको यह तरसने लगे तो वहां साधुस्वरूप नहीं रहता। सो दो प्रकारके मुनि मिलेंगे— (१) शुद्धोपयोगी और (२) शुभोपयोगी।

शुभोपयोगी मुनिके मुनित्वके सम्बन्धमें एक प्रश्न— ऐसे भी मुनि हैं जो शुद्धतत्त्वको तो लक्ष्यमें कर चुके, किन्तु आत्माकी निर्बलताके कारण शुभ प्रसंगमें उपयोग लगाये हैं। इनमें से शुद्धोपयोगी मुनि तो आश्रवरहित होते हैं और शुभोपयोगी मुनि आश्रवसहित होते हैं। जो शुद्ध श्रामण्यकी वृत्तिकी प्रतिज्ञा करके भी चूँकि उनमें कषायकण जिन्दा है, सो शुद्धोपयोग के रुचिया होकर भी, वे मुनि प्रायः शुद्धिमें चढ़ने समर्थ नहीं हो रहे हैं। ऐसे साधुवोंके सम्बन्धमें पूछा जा रहा है कि वे श्रमण हैं या नहीं। कौन? जिसने श्रमण्यकी परिणतिकी प्रतिज्ञा कर ली है, किन्तु उनमें कषायकण अभी मौजूद है तो उस कषायके विपाकमें वे शुद्धोपयोगकी भूमिमें चढ़नेमें समर्थ नहीं हैं। कैसी है वह शुद्धोपयोग भूमि जिस पर चढ़ना कठिन है? समस्त परद्रव्योंकी निवृत्त करनेसे विशुद्ध दर्शन ज्ञान स्वभावात्मक आत्माकी वृत्ति जहां प्रवृत्ति हो जाती है अर्थात् परद्रव्योंका उपयोग तो हट जाता है और आत्मतत्त्वका उपयोग हो जाता है, ऐसे शुद्धोपयोगकी भूमिमें तो नहीं चढ़ पा रहे हैं, किन्तु शुद्धोपयोग मुनिके उपकंठमें निविष्ट हैं अर्थात् निकट हैं। शुद्धोपयोग मुनिके कुछ निकट हैं, पर कषायके कारण जिसकी शक्ति क्षीण हो रही है, सो निरन्तर जिसका मन चंचल हो रहा है, ऐसा यह शुभोपयोगी मुनि। उनकी बात पूछी जा रही है कि ये मुनि कहला सकते हैं या नहीं?

शुभोपयोगी मुनिके भी मुनित्वका समर्थन— अब इसके उत्तरमें कहते हैं। ज्ञानाधिकारमें पहिले एक गाथा कही थी— धम्मेन परिणदप्पा अप्पाजदि 'सुद्धसंपओग जुदो। पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं। धर्मसे परिणत आत्मा यदि शुद्धोपयोगकी परिणतिको धारण किये हुए है तो उसकी सामर्थ्यको कोई नहीं रोक सकता। सो वह साक्षात् मोक्षको प्राप्त करता है, किन्तु वह यदि शुभोपयोगसे युक्त हो जाता है तो धर्म कार्यको मोक्षको करनेमें असमर्थ होता हुआ स्वर्गसुखके बन्धको करता है। इसमें यह भी सिद्ध है कि धर्मपरिणत वही साधु कभी शुभोपयोगसे युक्त हो जाता है। सो भैया! शुभोपयोगका भी धर्मके साथ एकार्थ संबन्ध रह सकता है अर्थात् जहां धर्म है वहां शुभोपयोग भी कुछ समय तक रह सकता है। जैसे घी ठंडा होता है, पर उस ठंडे घीमें भी गर्मी रह सकती है या नहीं? रह सकती है। आग पर घीको पिघला दो, गर्म करदो, जैसा घीका ठंडा स्वभाव है वह उष्णरूपमें परिवर्तित हुआ कि नहीं? हुआ। इसी प्रकार

समझ लो कि जिस आत्मामें शुद्धोपयोग रहता है वहां भी कषायोंके कारण कुछ दर्जे तक शुभोपयोग भी रह सकता है, किन्तु वहां शुद्धोपयोग उस समय आयोगरूप नहीं है, किन्तु निरावरण जितना हुआ है उतना शुद्ध अंश व्यक्त है।

शुभोपयोगी मुनिके शुभोपयोगसे वाधाका प्रदर्शन-- यद्यपि घी ठंडा होता है, पर उसमें अग्निका संताप आ जाये तो यह मुँह जला देता है, जीभ जला देता है। इस तरह शुद्धोपयोग अथवा धर्मशांतिको उत्पन्न करने वाला है, किन्तु उसके साथ शुभोपयोग लग रहा है तो उसका क्या फल रहेगा कि वह उस मुनिको देवगतिमें पहुंचा देगा। वह वहां ...ताओंके विषय प्रसंगके संतापसे झुलसेगा। लो, इस शुभोपयोगने एक विकट स्थिति उत्पन्न कर दी। तो जैसे इस ही घीने आगका संसर्ग पाकर, अपना अन्यरूप रखकर भी खाने पीने लगाने वालेके अङ्गको जला दिया, ऐसे ही इस परिणमनने शुभोपयोगका संसर्ग पाकर स्वामीको लौकिक सुखकी, रागकी ज्वालामें झुलसा दिया।

शुद्धोपयोगप्रधानी मुनिके समकक्ष न होकर भी शुभोपयोगी मुनिके मुनित्वका श्रद्धान— कोई पुरुष साधु बनकर तुरन्त ही शुद्धोपयोगी बने और फिर रह जाय, यह तो नहीं है। वह यदि साधनामें लगा है शुद्धोपयोग में लगा है तो इस शुभोपयोगके मुनिको मुनि कहेंगे या नहीं ? उत्तर यह देंगे कि कहेंगे, क्योंकि धर्मके साथ एक अर्थमें, एक आत्मामें शुभोपयोगका सद्भाव पाया जाता है। इस कारण शुभोपयोगी यह साधु शुद्ध धर्मके सद्भावसे श्रमण तो हो जायगा, किन्तु उसकी समानता शुद्धोपयोगियोंके साथ न होगी। शुद्धोपयोगीके समान कक्षा शुभोपयोगीकी नहीं हो सकती है, क्योंकि शुद्धोपयोगी श्रमण तो समस्त कषायोंको दूर कर देनेके कारण आश्रवरहित ही होता है, किन्तु यह शुभोपयोगी साधु चूँकि कषायकणोंको फेंक नहीं सका है, इसलिए आश्रवसहित है।

शुभोपयोगप्रधानी शुद्धोपयोगोन्निनीषु मुनियोंकी चर्चा-- भैया ! यहां उन मुनियोंकी चर्चा नहीं कर रहे हैं जो कषायसे भरे हुए हैं, किन्तु उन मुनियोंकी बात कही जा रही है जिनका लक्ष्य व यत्न तो शुद्धोपयोगका है, किन्तु विपाकवश जिनमें कषायके कण अभी शेष हैं। इसलिए यहां कण शब्दका प्रयोग किया जा रहा है। इस ही कारण यह शुभोपयोगी शुद्धोपयोगीके साथ समान कक्षा वाला नहीं कहा जा सकता। वे उनसे हलके कक्षामें संग्रहीत होते हैं। मोक्षमार्गका प्रज्ञापन कल तक हो चुका था, अब शुभोपयोगी साधुवोंकी प्रधानताका कथन चल रहा है, क्योंकि व्यवहार

बनना है शुभोपयोगसे। शुद्धोपयोगी तो अपने आपका अपने में काम निकालता है, पर यह मोक्षमार्ग चलेगा आगे। लोगोंसे भी इस मार्गमें चलनेका वातावरण बनायेगा तो वह शुभोपयोगका व्यवहार बनाएगा। इसलिए शुभोपयोगकी प्रवृत्तिका वर्णन करना भी आवश्यक है।

शुद्धोपयोगके सम्पर्कसे ही शुभोपयोगकी यथार्थता— वास्तवमें शुभोपयोग वही है जो शुद्ध ज्ञानस्वभावी आत्माका लक्ष्य करता हुआ सेवादिक व्यवहारमें रहता हो, भक्तिके परिणाममें रहता हो तो वह शुभोपयोग ही वास्तविक शुभोपयोग है। जिसको आत्मस्वरूपका पता नहीं है वह साधु भक्ति सेवा आदि व्यवहार भी करे तो भी वास्तवमें शुभोपयोग तो न कहेंगे किन्तु मंद कषाय होने से उसे शुभोपयोग कहने ही लगेंगे। ऐसे शभोपयोगी साधु शुद्धोपयोग द्वारा निम्न कक्षामें संग्रहीत किए जाते हैं। विष्णुकुमार मुनि जिनके योग्य समाधिके परिणामसे विक्रिया ऋद्धि हुई थी, मुनियों पर संकट देखकर उन्होंने वात्सल्यभावको अपनाया और मुनियोंकी रक्षा की। उस समय वे शुभोपयोगी बन गए।

जिसको खबर ही न रहे कुछ बाहरकी उसको तो ठीक है या न बनना चाहिए शुभोपयोग और न व्यवहारमें बढ़ना चाहिए, पर जिसके धर्मात्मावों का संकट दृष्टिगत हो रहा हो और फिर उसके बचावका यत्न न करें तो इस से उसकी उन्नति तो नहीं समझी जा सकती धर्मात्मावोंकी .अवहेलना से। इसलिए शुभोपयोगका व्यवहार भी आवश्यक चीज है। जैसे पहिले कथन आया था उत्सर्ग और अपवाद ये सापेक्षमार्ग हैं, फिर भी बहुत बड़ा साधन बन जाने पर अपवादकी कुछ आवश्यकता नहीं रहती। केवल उत्सर्गसे ही वृत्ति मुक्तिकी सिद्धि होती है। इसी प्रकार शुद्धोपयोगकी वृत्ति और शुभोपयोगकी दोनोंका यथासमय यथासम्भव रहना साधुके लिए हितकर है। फिर भी शुभोपयोगको बिल्कुल छोड़कर केवल शुद्धोपयोगकी वृत्ति रहे तो उन्हें मुक्ति प्राप्त होगी। श्रेष्ठ उत्सर्ग ही है, श्रेष्ठ शुद्धोपयोग नहीं है, किन्तु इतनी सामर्थ्य जब मिटी है, नहीं हो पायी है तो ऐसी स्थितिमें अपवादका, शुभोपयोगका उपेक्षा भाव कर देना हितकर होगा। इसलिए शुभोपयोगी श्रमणोंकी कुछ चर्याका वर्णन किया जायेगा।

अब यह बतलाते हैं कि शुभोपयोगी साधुवोंका लक्षण क्या है? उनकी कौनसी वृत्ति देखकर हम यह समझें कि ये साधु शुभोपयोगी हैं। इसही वृत्त को कहते हैं।

अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता हवे चरिया ॥२४६॥

अरहंत आदि परमेष्ठियोंका भक्त होना; प्रवचनसे अभियुक्त ज्ञानी, आचार्य, उपाध्याय साधुवोंमें वात्सल्य परिणामका होना—ये बातें यदि साधुवोंमें पायी जाती हैं तो साधुवोंकी इस पर्यायको शुभोपयोगसे युक्त कहा जाता है।

वास्तविक शुभोपयोगीका प्रयोजन शुद्धोपयोग— केवल भक्ति और वात्सल्यके लिए वह ज्ञानी मुनि नहीं बना; वह मुनि बना है समस्त अंतरंग और बहिरंग परिग्रहोंका त्याग करके, शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रहनेकी स्थिति पानेके लिए। सो यद्यपि ऐसा ही श्रामण्य उसने अंगीकार किया कि जिसका अंतरंग और बहिरंगमें किसी प्रकारका रंग नहीं रहे, फिर भी कषायके लवके आवेशके वशसे अर्थात् कुछ कषायोंके होनेके कारण वह स्वयं शुद्ध आत्मामें ही ठहर जाय, इस ही पद्धतिमें रहनेमें आसक्त है, परन्तु जो अरहंतादिक हैं, जो शुद्धआत्माकी वृत्तिरूपसे निष्काम अवस्था है उनमें और जो शुद्ध आत्माकी वृत्तिकी स्थितिका प्रतिपादन करनेवाले हैं उनमें भक्ति और वात्सल्य भाव करता है वह शुभोपयोगी है।

सिद्धप्रयोजनोंके निकट प्रयोजनार्थीकी गति-- चूँकि शुद्धोपयोग रूपसे रहनेके लिए साधु स्वयं साधन बने हैं, अर्थात् रागद्वेष संकल्प विकल्प न आ सकें, केवल शुद्धज्ञाता द्रष्टा रह सकें, इस स्थितिके पानेके लिए वे साधु होते हैं, पर कोई कषायकरण ऊपरी शेष है, इस कारण उस प्रयोजनका उपयोग नहीं कर पा रहे हैं, किन्तु जब कहीं बाहर चित्त जायेगा तो कहां जायेगा? इस प्रयोजनमें जिसके सिद्धि हो चुकी है वहां जायेगा। जो साधु समाधिके फलस्वरूप परिपूर्ण अनन्तचतुष्टय सम्पन्न है, ऐसे अरहंत सिद्धमें भक्ति जायेगी। प्रभुभक्तिका बड़ा महत्व है। शुद्धोपयोगकी साधनामें जुटे हुए साधुजन शुद्धोपयोगमें नहीं ठहर सकते हैं तो उनका कहां ठहरनेका स्थान है? वह द्वितीय दर्जा है अरहंत सिद्ध परमात्माकी भक्ति।

शुभोपयोगकी तृतीय कक्ष.— अरहंत आदिकी भक्तिमें भी परिणाम न ठहर सके तो तृतीय कक्षा मिली--आचार्यजनोंकी सेवा, वात्सल्य, सत्संग। उत्तम तो यही प्रथम कक्षा थी। शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रहना और शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रहनेके लिए ही श्रामण्य अंगीकार किया था! पर कषायकण जब विपाकमें हैं तो वे मुनि अरहंत आदिकी भक्ति करते हैं और साधु परमेष्ठियोंमें वात्सल्य करते हैं। तब उनमें मात्र रागके कारण परद्रव्योंमें उनकी अल्पवेग में परिणति है, उससे मिश्रित उनके शुद्ध आत्माकी परिणति है। शुद्धोपयोग छूटा नहीं है, वह है, पर कषायकण होनेसे शुभोपयोगकी प्रवृत्ति लग रही है। ऐसे मुनिका जो उपयोग होता है वह भी चारित्र कहलाता है।

उद्‌देश्यहीनके चेष्टाकी व्यर्थता— ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्तियां ये भी तो शुभोपयोग हैं और चरित्र बतायें कहां, पर वे व्रत उद्‌देश्यको लिये हुए हैं अतः चारित्ररूप हैं। जो शुद्धोपयोगके लक्ष्यसे दूर है ऐसा शुभोपयोगी चरित्री नहीं हो सकता, निरुद्‌देश्य कार्यमें सफलता नहीं हो सकती। जैसे कोई मंदिर बनवा रहा है तो उसका उद्‌देश्य केवल मंदिर निर्माणका है, पर कितने काम करते रहते हैं? सीमेन्ट वालेके पास जाना, परमिट बनवाना, ईंट वालोंके पास जाना, ये सब कार्य करने पड़ते हैं, पर उद्‌देश्य केवल एक है मंदिर निर्माण करानेका। कोई अपना उद्‌देश्य तो रखे नहीं और इन सब कामों को करना, ईंटवालोंसे बात करना, मजदूरोंसे बात करना बनाये रहे तो इसमें तो पागल ही कहा जायेगा।

उद्देश्यसहित व उद्देश्यरहित साधुचर्याका अन्तर— उद्देश्यहीन काम करने वालेको ही तो पागल कहा गया है। जैसे सड़क पर पागल घूमते हुए मिलते हैं। तो आपको वहां स्पष्ट समझमें आयेगा कि इनका उद्देश्य कुछ नहीं है। अभी इसने यह बोल दिया, बादमें कुछ और बोल दिया, फिर कुछ और चेष्टायें करने लगा। उद्देश्यहीन प्रवृत्तिको पागलपन कहते हैं। यों ही कोई पुरुष आत्मतत्त्वके लक्ष्य बिना, मोक्षस्वरूपके परिचय बिना कायक्लेश करता रहे तो क्या वह रहस्य वह स्वस्थ कहला सकता है? यह शुभोपयोगी साधु उद्देश्यहीन नहीं है। उसके साथ यद्यपि कषाय विपाकवश शुभोपयोग लगा है। फिर शुद्ध आत्मामें अनुरागको जुटाने वाला जो चरित्रका लक्षण है वह उन साधुवोंमें भी पाया गया है। जैसे यह स्वभावकी बात कही है कि शुद्ध आत्मतत्त्वका लक्ष्य रहते हुए कोई श्रमण शुभोपयोगमें है तो वह अपने पदसे भ्रष्ट नहीं है।

साधुके लक्ष्य जैसा ही श्रावकका लक्ष्य— इसी प्रकार गृहस्थीकी भी ऐसी बात है कि उसका भी लक्ष्य वही होता है जो साधुवोंका होता है। क्योंकि शांति सबको चाहिए। शांतिका उपाय केवल एक ही है—शांतस्वभावी निज आत्मतत्त्वका उपयोग करना। तब साधुके समान ही गृहस्थ का लक्ष्य होता है। शुद्ध आत्मवृत्ति जगे, केवल ज्ञातादृष्टा रहनेकी स्थिति रहे, फिर भी इस लक्ष्यकी सफलता प्रकट नहीं होती है तो वह मुनि शुभोपयोगी होता है। इसी प्रकार गृहस्थ अपने इस लक्ष्यमें सफल प्रगति नहीं कर पाते हैं। तो गृहस्थ भी शुभोपयोगी बनता है।

दृष्टिके अन्तरका चमत्कार— भैया! काम वही करना है, पर करने की दृष्टि बदलना यही लाभ अलाभ है। दुकान पर धन कमाते हुए भी गृहस्थ यदि यह भाव रख रहा है कि करने योग्य काम तो ज्ञाताद्रष्टाकी

स्थिति ही है, किन्तु इस शुद्ध परिणाममें जानेके लिए इन पर्यायोंमें सामर्थ्य नहीं है। तो इस वृत्तिके ध्येयसे चिग न जाये, इस कारण गृहस्थधर्मको अंगीकार किया है और इस गृहस्थधर्ममें आजीविका आवश्यक है। सो यह आजीविका जैसी उदयकी दशा होगी, वैसे यह धन आयेगा। स चिन्ता न करके जो संग प्राप्त हैं उसमें व्यवस्था बनाकर, गृहस्थधर्मका कर्तव्य निभाकर अपने शुद्ध लक्ष्यमें बढ़नेका यत्न रखूँगा, ऐसा आशय है तो वह दुकान पर बैठा हुआ भी शुभोपयोगी है। काम वही है करनेका, किन्तु दृष्टि बदलते जानेसे यह मोक्षमार्गी है। मिथ्यादृष्टि जीव क्या वही काम करते हैं जिसे सम्यग्दृष्टि गृहस्थ कर रहे हैं, धन कमाना, बच्चोंका पालन पोपण करना। पर दृष्टि विशुद्ध न हो सकनेसे वह संसारमार्गी है।

लगने और हटनेकी रुचिमें महान् अन्तर—केवल दृष्टिसे ही कल्याण होना है, दृष्टिकी निरन्तरता ही चारित्र है। तो यह दृष्टि क्यों नहीं इस प्रकार की जा सकती, उसका कारण है कि मोहका रंग गहरा है। नहीं तो बाधा कहीं कुछ नहीं। वही घर है, वही दुकान है, वही लोकव्यवस्था है, समस्त काम आप कीजिए, कोई काम छूट नहीं रहा है पर दृष्टि बदल जानेसे आपका उनमें आदर नहीं रहेगा। आपकी दृष्टि मोक्षमार्गके लिए है। एक सम्यग्दृष्टि गृहस्थके भी यह सब परिवार है और जैसे एक सम्यग्दृष्टि जीवको घरमें सब कुछ करना पड़ता है, बच्चोंको खिलाना, पुचकारना, सो वह सम्यग्दृष्टि करता है, पर मिथ्यादृष्टि इस प्रवृत्तिमें संलग्न है और सम्यग्दृष्टिके गृह कार्योंमें निवृत्तिकी मुख्यता है। कब इस जालसे छूटें? ऐसा आशय रखते हुए घरमें रह रहा है सद्गृस्थ। वह खेद मानते हुए रह रहा है और यह पर्यायबुद्धि वाला उसमें मौज मानता हुआ रह रहा है।

कर्तृत्वके उत्साह बिना कर्तृत्वकी अमान्यता—भैया! किसी नौकर को काम करनेका अंतरंगसे उत्साह न हो और वह किसी अत्याग्रह पर काम कर रहा हो तो मालिक यही कहता है कि तू काम कर ही नहीं रहा है। और हाथ पैर तो चल रहे हैं। हाथ पैर चलनेका नाम करना नहीं है, किन्तु अन्तरसे उल्लासके साथ प्रवृत्ति करनेका नाम है। यह सद्गृहस्थ ज्ञानी संत घरमें बसता हुआ भी, कार्य करता हुआ भी कार्य नहीं कर रहा है, क्योंकि उसके निवृत्तिकी धुनि समाई हुई है। उसे तो शुद्धज्ञानके अनुभवका आनन्द प्राप्त हो चुका है। अब वह तुच्छ, नीरस, असार, विनाशीका इन्द्रिय सुख की चाह नहीं करता है। किन्तु सिपाहीकी मारसे जैसे कैदीको चक्की पीसनी पड़ती है, इसी तरह कर्मोंकी मारसे इस ज्ञानी संतको गृहस्थीमें जुतना

पड़ता है। इन समागमोंमें रहते हुए समागमोंसे निवृत्तिकी ओर मुख किए हुए हैं। इस कारण ये शुभोपयोगी वास्तवमें शुभोपयोगी हैं। सो ये भी मुनि तो हैं, पर शुद्धोपयोगी मुनिके समान कक्षा वाले नहीं हैं।

अब जो शुभोपयोगी श्रमण हैं उनकी प्रवृत्ति कैसी होती है ? यह दिखाते हैं।

वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ति।
समणेसु समावणओ ण णिंदिया रायचरियम्हि ॥२४७॥

जो मुनि सराग चारित्र अवस्थामें हैं अर्थात् शुभोपयोगी हैं वे क्या करते हैं ? इस श्रमणमें महामुनियोंमें जो कोई खेद हो तो उसे दूर करते हैं, सेवा करते हैं। यात्रासे थक गये हों या धर्म कार्योमें विशेष लगे रहनेसे थक गये हों, तपस्यासे थके हों तो उनकी सेवा करना और वंदन नमस्कार की प्रवृत्ति रखकर गुणानुवाद गाना—यह शुभोपयोगी श्रवणोंकी प्रवृत्ति है।

गुणानुवाद और दोषवादमें समृद्धि व हानि—भैया दूसरोंके गुणानुवादमें बड़ी समृद्धि है। दूसरेके गुण बोलने वालेको भी आनन्द रहता है, प्रसन्नता रहती है और जिसके गुण बोले जायें उसको भी खेद नहीं होता और सुनने वाले जितने बैठे हों उनके भी खेद नहीं होता। निन्दा करनेकी बात और परोक्षमें निन्दा करने की बात करना, इससे बढ़कर नीचता और कुछ नहीं है। और देखो व्यर्थकी बात कि मिलता कुछ नहीं है, उल्टा नुकसान ही होगा। लौकिक हानियोंकी भी संभावना है और पारलौकिक हानि भी है, मगर जिसका चित्त मोहवृत्तिसे रंगा है, निम्न श्रेणीका है तो जैसे ऊपरसे किसी चीजमें मल भरा है तो वह बदबू तो छोड़ेगा ही। इसी प्रकार जो उपादान मलिन है, विषयवासनाओंसे कलुषित है, उसे कितना ही व्यवहारमें सजावो, किन्तु उससे ओछी ही बात प्रकट होगी। तो ऐसी मलिनतावोंसे इस जीवको एक मुदी चोट जैसी परेशानी रहती है।

संकटोंसे मुक्त होनेका उपाय निःसंकट आत्मस्वरूपका दर्शन— सर्वसंकटोंके दूर करनेका उपाय तो सीधा एक ही है—निर्दोप सहजज्ञानस्वभाव मात्रका ऐसा परिचय होना, यही मूल उपाय है और उपाय तो एक डाक्टरी दवाकी तरह हैं। थोड़े समयको रोग दबा दिया, किन्तु रोग मूल से समाप्त नहीं हुआ, वह औषधि नहीं है। पर मूलतः जैसा स्वरूप है वैसा अपने को मान लिया यह सर्वभवोंसे मुक्ति प्राप्त करनेका उपाय है। ऐबोंसे छूटनेका उपाय एक है। समस्त उत्पन्न ऐब इस उपायसे छूट जाते हैं। ये ऐब ही तो संकट हैं, इनसे जो मुक्त हुए हैं, ऐसे साधुसंत भगवंतोंका दर्शन भी संकट दूर करनेका आदर्श निमित्त है। ऐसे प्रभुवोंका वे गुणानुवाद, स्तवन किया

करते हैं।

वृत्तिके अनुसार फल---दर्पणके सामने अपना जैसा मुँह करोगे वैसा ही दर्पणकी ओरसे उत्तर मिलेगा। यदि शांतमुद्राका सुख बन गया तो दर्पणकी ओर से वैसा ही उत्तर मिलेगा और क्रूरता भरी निन्द्य मुद्रा बन गयी तो वैसा ही उत्तर मिलेगा। भैया! बालक का हृदय भी ऐनाकी तरह साफ होता है, जो अन्दर बाहर। एक बाबू जी थे। वे कर्जदार थे। उन्होंने देखा कि अमुक सेठ हमारे घरपर आ रहा है तो वह अपना पैसा मांगेगा, क्योंकि मेरे ऊपर कर्जा है। सो अपने बच्चे से कहा---बेटा! तुम दरवाजे पर खेलने लगो। सेठ जब कहे कि बाबू जी कहां हैं तो कह देना कि वे बाहर गये हैं। अब सेठ जी आये तो बच्चे से पूछते हैं कि बाबू जी कहां हैं? तो लड़का बोलता है कि बाबू जी बाहर गये हैं। तो सेठ पूछता है कि कब गये हैं तो बोला ठहरो, यह भी बाबू जी से पूछ आयें। तो जैसा जिसका उपादान है वैसा ही तो परिणाम करेगा, बात तो वही निकलेगी, चाहे जैसा सिखावें। इस कारण प्रकृति बदले वह उपाय करना चाहिए।

निन्दावृत्तिकी निन्द्यता— भैया! किसी भी पुरुषके निन्दा करनेकी प्रकृति नहीं होनी चाहिए। कोई सामने भी न करे, किन्तु परोक्षमें करे तो यह उससे भी अधिक नीच वृत्ति है। निन्दा करनेकी वृत्ति अनेक अनर्थोंकी जड़ है। इससे न यह शान्तिमें रह सकता है और जो जो इसके निकट होंगे न वे शान्तिसे रह सकते हैं। इसके अतिरिक्त निन्दा करने से निन्दक अपने सब गुणोंको भस्म कर देता है। निन्दावृत्ति भी विकट अशुभोपयोग है। शुभोपयोगी साधुजनोंकी यह मुख्य प्रवृत्ति है कि वे गुणानुवादमें अपना वचन व्यवहार रखते हैं, निन्दाका तो वहां नाम भी नहीं है।

शुभोपयोगमें विनयकी मुख्यतासे वर्णन— ये श्रमण मुनियोंमें नमस्कारकी वृत्ति रखते हैं। उनके मान नहीं है। उन्होंने मानको चूर कर दिया है। उनकी बड़ी विनयरूप वृत्ति है। सामने से श्रमणको देखकर उठ कर खड़े हो जायेंगे। अपने निकटसे श्रमण जब जाते हों तो उनके पीछे-पीछे चलकर कुछ दूर तक पहुंचाते हैं। उनके साथमें विहार करना हो तो उनके पीछे या उनके बायें अंगकी ओर चला करते हैं और अपने किसी कामके लिए विनयपूर्वक उनसे पूछना आदि प्रवृत्ति किया करते हैं। ये विनयसंबंधी बातें क्या बताना है, विनयकी पात्रता होती है तो सब बातें अपने आप हो ही जाती हैं। तो अभ्युत्थान और अनुगमनकी प्रवृत्ति भी शुद्धोपयोगी श्रमणोंके होती है। ये व्यवहार-प्रवृत्तियां निषिद्ध नहीं हैं। ये श्रमण-व्यवहार-मार्गमें अपवादमार्गरूप विधिमें आये हैं। ये शुभोपयोगी श्रमण शुद्ध

आत्माके अनुरागसे सम्बन्धित चारित्र वाले हैं।

शुभवृत्ति शुद्धवृत्तिके लिये— जिसने शुद्ध आत्माकी वृत्तिको प्राप्त किया है ऐसे श्रमण महामुनियोंको वे श्रमण वंदना करते हैं, नमस्कार करते हैं, उठ खड़े होते हैं, पीछे चलते हैं और बार-बार निवेदन करते हैं। उनके विनयपूर्वक निवेदन करनेकी प्रकृति होती है। और साधुजनोंको कोई श्रम हो, थकान हो तो उनकी वैयावृत्य करनेकी भी प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति किसलिए है ? शुद्धआत्माकी वृत्तिकी रक्षा करने के लिए। जिसको शुद्ध आत्मतत्त्वके विकासकी धुनि लगी है अथवा ज्ञाता द्रष्टा रहनेकी जिसकी अंतःप्रेरणा जगी है, वह दूसरोंके साथ विनयपूर्वक व्यवहार करेगा। अब और भी बतलाते हैं कि शुभोपयोगी श्रमणजनोंकी ऐसी-ऐसी प्रवृत्तियां होती हैं।

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसोपा ॥२४८॥

गुरुका अनुग्रह— जो भव्यजीव हैं, जिनके जाननेकी उत्सुकता है, उन पर अनुग्रहपूर्वक दर्शन ज्ञानके उपदेशकी प्रवृत्ति होती है। सम्यक्त्वविषयक और सम्यग्ज्ञानविषयक उपदेश वे किया करते हैं। यह सब शुभोपयोग है। शिष्योंके संग्रहणकी प्रवृत्ति करते हैं, शिष्योंको रखते हैं, उनको जैसे अहितमार्गसे निवृत्ति प्राप्त हो उस प्रकारका व्यवहार करते हैं, उन शिष्योंके पोषणकी प्रवृत्ति करते हैं, उनकी आत्माका पोषण करते हैं। भैया ! आहार देकर शरीरको पुष्ट करनेकी प्रवृत्ति मुनि कहांसे करेंगे ? यह तो सबके अपने अपने कर्मोदयपर निर्भर है, सो होता है, पर आत्माको संक्लेश न हो, मोक्षमार्गमें प्रगति हो, शुद्ध आत्मतत्त्वके स्मरणकी उत्सुकता रहे, इस प्रकारसे उनकी आत्माका पोषण होता है।

ज्ञानी पिताकी पुत्रके प्रति भावना— धन्य हैं वे। माता पिता जो अपने बालकके प्रति ऐसे परिणाम रखते हैं कि इस आत्माका परमार्थतः उद्धार हो। प्रथम तो यह दृष्टि सभी पर रखनी चाहिए और जब समझें कि इसकी रुचि आत्मकल्याणकी ओर नहीं है और विपरीतवृत्ति है तो उसमें माध्यस्थ्यभाव बनावें। यदि हठवृत्ति नहीं है तो उसे भी हितका उपदेश कर धर्ममें स्थिर करें। प्रथम भाव यह होना चाहिए कि यदि इस बालकका परिणाम अपने आपके हितका है, भावना उत्तम है तो करो आत्महित। इस संसारमें अनेक जन्मे और मरे। यहां कोई थमकर रहने वाला नहीं है, फिर किसका क्या है ? यदि मोह रागमें ही पगे रहे तो वही जन्ममरणका चक्कर लगा रहेगा।

आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेवके बचपनमें माताकी भावना-- जिस आचार्यका बनाया हुआ यह ग्रन्थ है वे जब बच्चे थे, मानो साल छः माहके तो उसको मां हिंडोला डालकर इन्हें झुलाती थी और हिंडोला झूलाकर प्रमोदमें आकर मां कुछ गीत गाती थी। वह मां उन गीतोंको उस बच्चेसे ही कहती थी। हम सबकी माताएँ ऐसा गाती हैं कि तू राजा है, तू ऐसा बनेगा, तू अमुक है, किन्तु कुन्दकुन्दकी मां झुलाती हुई बोलती थी। क्या ? 'शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि। संसारमायापरिवर्जितोऽसि। संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां, श्रीकुन्दकुन्दं जननीदमुचे। श्रीकुन्दकुन्दकी मां कुन्दकुन्दसे कहती है कि बेटा तू शुद्ध है, सर्व परद्रव्योंसे निराला, ज्ञानमात्र है। ऐसे कहकर झुलाती जा रही है। देखो बच्चेको अध्यात्मके दर्शन जल्दी कराये जा रहे हैं। तू ज्ञानी है, ज्ञानका निधान है, निरंजन है, द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म समस्त अंजनोंसे रहित तेरा एक शुद्धज्ञायक स्वभाव है, तू संसारकी मायासे अलग है, इस संसारके स्वप्नके मोहकी निद्राको छोड़ दे। इस प्रकार अपने बालकके प्रति कुन्दकुन्दकी मां ऐसी भावना रखती है। जिस बच्चेके प्रति मां बाप बचपनसे ही पवित्र भावनाएं रखें तो उस बच्चेकी प्रवृत्ति उच्च बनेगी, उदार बनेगी।

शुभोपयोगप्रधानी मुनियोंकी प्रवृत्ति— ऐसे ही संगमें रहने वाले प्रमुख गुरुकी संघस्थोंके प्रति भावना रहती है। इनका आत्मा उच्च विचार का बने, उच्च आचारका बने, ऐसे शुभोपयोगी श्रमणोंकी अप्रतिषिद्ध प्रवृत्ति है। जिनेन्द्रकी पूजाके उपदेशकी प्रवृत्ति भी शुभोपयोग है। यह शुभोपयोगी श्रमणोंकी बात कही जा रही है। ये सब प्रवृत्तियां शुभोपयोगियोंके ही होती हैं, शुद्धोपयोगियोंके नहीं होती हैं। कहीं मुनि दो डिजाइनोंमें नहीं हैं कि कोई मुनि शुभोपयोगी होता है और कोई शुद्धोपयोगी होता हो। हां, दो डिजाइनें ऐसी हो सकती हैं कि कोई मुनि केवल शुद्धोपयोगी है और कोई मुनि कदाचित् शुद्धोपयोगी भी हो और कभी शुद्धोपयोगी हो। भैया! ऐसा मुनि कोई नहीं होगा, जो प्रारम्भसे लेकर अन्त तक केवल शुभोपयोगी ही होता है। यदि कहीं ऐसा है तो यह एक दुकान है, बनियाई काम है, धर्मसाधना नहीं है।

मुनिजनोंके शुभोपयोग हो जानेका कारण— मुनिजनोंके शुद्ध आत्मतत्त्वका ही लक्ष्य रहता है, पर कपायकरण शेप हैं, इस कारण उनके राग निकलता तो है पर वह राग शुद्ध आत्मद्रव्यके उपलम्भके प्रयत्नमें लगता हुआ धर्मात्माजनोंके उपकार और सेवामें परिणत हो जाता है। कोई प्रश्नकर्ता यहां यह शंका करता है कि शुभोपयोगी जीवको भी किसी कालमें

शुद्धोपयोगकी भावना देखी जाती है और शुद्धोपयोगी साधुवोंके ही किसी कालमें शुद्धोपयोगकी भावना देखी जाती है और मुनियोंकी भी बात छोड़ो, श्रावकोंमें भी ये श्रावक निरन्तर शुभोपयोगी नहीं रहा करते हैं। कभी कभी शुद्धोपयोगका भी उपयोग होता है। यदि न हो तो यह भी दूकान ही है, बनियाई बात है। तो फिर यह कैसे कहा कि यह शुभोपयोगी है और यह शुद्धोपयोगी है ? इनका अन्तर कैसे जाना जायेगा ? तो उसका समाधान है कि जो प्रचुरतासे शुभोपयोगमें लगते हैं उनको तो शुभोपयोगी कहते हैं और जो प्रचुरतासे शुद्धोपयोगमें रहते हैं वे शुद्धोपयोगी कहे जाते हैं।

शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगीके नामकरणमें मुख्यता— यद्यपि शुभोपयोगी श्रमण किसी किसी समयमें शुद्धोपयोगकी भावनाको करते हैं तो भी वे शुभोपयोगी ही कहे जाते हैं, क्योंकि उनका समय प्रचुरतासे शुभोपयोगमें व्यतीत होता है। जो जीव शुद्धोपयोगी है वह यद्यपि किसी समयमें शुभोपयोगमें भी रहता है, पर उसकी प्रचुरता शुद्धोपयोगकी है। इस कारण वह शुद्धोपयोगी ही कहा जाता है। जैसे कोई एक बगीचा है और उसमें १०० तो आमके पेड़ हैं और ३० जामुनके पेड़ हैं, ३५ अमरूदके पेड़ हैं, २६ नींबूके पेड़ हैं, पर उस बगीचेको आप आमका बगीचा बोलेंगे। जिसके पेड़ ज्यादा हैं उसका ही नाम बोलेंगे। आमके बगीचेमें चलोगे ? क्या उसमें सब आम ही आम है ? नहीं। अच्छा यदि और पेड़ नहीं हैं तो घासफूस तो है। तो क्या कोई ऐसा कहता है कि जिसमें घासफूस है और आम है उस बगीचेमें चलें ? नहीं। जो प्रधान है, जिसका बहुत मत है उसकी ही प्रधानता होती है। जिसका शुभोपयोगमें अधिक समय व्यतीत होता है वह शुभोपयोगी है और जिसका शुद्धोपयोगमें अधिक समय रहता है वह शुद्धोपयोगी है।

वैराग्यका सम्बन्ध अन्तर्दृष्टिसे— दृष्टिकी कुछ मत पूछो। भगवान्‌के सामने खड़े होकर घंटा भर आप विनती करें, पूजा करें, और कहीं दृष्टि न जाये और पूजा समाप्त हो जाये और दरवाजेसे निकल कर घर जा रहे हैं, कहो भगवान् अरहंतदेवकी भक्ति जग जाये। कहो सामायिक करते समय ध्यान न लग सके और खाना खाकर या थकनेके कारण जरासी लेट लगा लें तो भगवान् अरहंत देवकी भक्ति जग जाए, कहो समतापरिणाम जागृत हो जाये। दृष्टिकी अजब गति है, किन्तु कारण तो पूजा सामयिक है, इसलिए किये जाते हैं। अवलम्बन हैं, पर ध्यान होनेकी बात विचित्र है। कहीं आप सत्संगमें बैठे हों तो भी संभव है इतना ऊंचा वैराग्य

न जग सके और घरके विषयके किसी प्रसंगमें आपके वैराग्य जग जाये और वहां ज्ञानी संतोंके बीचमें वैराग्य नहीं जग सका है तो इसका संबंध अन्तर्दृष्टिसे है।

धर्मकी जगनका उद्गमस्थान अन्तर्वृत्ति— धर्म दिखाने, बनाने और सजानेसे नहीं होता। दिखाना, बनाना सजाना तो अधर्मी चाहता है। धर्म चाहने वाला तो इस धर्मकी रक्षा करता है। जैसे कुमित्र होता है तो वह बातें बनाता है, दिखाता है, सजाता है, पर जो सुमित्र है वह चाहे उस मित्र को महीनों न मिले, किन्तु अन्तरमें ऐसी वृत्ति रखता है कि जैसे उस मित्र का भला हो। इसी तरह धर्मके भेषके रूपमें आया हुआ यह अधर्म दिखाने सजाने, बनानेका काम कर पाता है, पर धर्म तो न जाने किस जगह इसको दर्शन दे, भला करदे। तो यह निजनाथ कहां जाकर छुपकर रहेगा? इस के खोजनेकी जो धुनि बन गई वह इसकी खोज करता ही रहेगा। वह मेरा निजनाथ क्यों न मिलेगा? वह मेरा निजनाथ मिलेगा अवश्य।

निजनाथके खोजनेकी सावधानी— भैया! निजनाथके खोजनेकी गली सकरी है, गुप्त है। उस गलीसे चलकर ही इस जीवको वह निजनाथ मिलेगा। अब तुम लम्बी, चौड़ी सड़कों पर घूमा करते, जहां विषयकषायोंकी पब्लिक बस रही हैं। उन सड़कोंमें अपने उस प्रभुको खोजना चाहते हो तो वह कैसे मिलेगा? संकल्प विकल्पोंको त्यागकर केवल समताकी गलीसे जो बड़ी सकरी है, रंच असावधानी हो गई तो या तो रागोंकी ओर गिरेंगे या द्वेषोंकी ओर गिरेंगे। उस गलीसे चलकर और कुछ निहारो तो निज नाथका दर्शन होगा और उस दर्शनसे जो चमत्कार और आनन्दका अनुभव होगा, उससे तृप्त होकर फिर यह कहेंगे कि हे निजनाथ! अनन्तकाल तुमने मुझे यों ही सताया। पहिले कभी दर्शन दे देते तो हमारा भी उद्धार हो जाता। अब मुमुक्षु कुछ निजनाथकी अकृपा पर झुंझलाया, फिर जैसे किसी बड़े आदमीसे भिखारीको कोई इष्ट चीज मिल जाये तो भिखारी भी उसे आशीर्वाद देता है। देखो छोटे आदमी भी बड़ेको आशीर्वाद देते हैं— 'दूधन फलें पूतन फलें, खूब सम्पदा बढ़े।' तो यह उपयोग भिखारी इस निजनाथकी दृष्टिसे अनुगृहीत होकर यह उसको क्षमा करता हुआ कहता है। खैर, जब तुम दर्शन दोगे तब ही भला है। बहुत हम तुम पर झुंझला गये थे, तुमने बड़ी कृपा की कि अनन्तकालमें अब दर्शन दिया। हे निज-नाथ! पहिले आप दर्शन दे देते तो आपका क्या बिगड़ता था? जैसे मानलो इसने निजप्रभुका अपराध क्षमा कर दिया हो। खैर, जब दर्शन दो तब ही सही। इस दृष्टिका मर्म अनोखा है। यह शुभोपयोगी साधु

निरन्तर शुभोपयोगमें न रहकर यह बीच-बीचमें कई बार शुद्धोपयोगमें रहता है। इस प्रकार जो बड़ी प्रचुरतासे शुभोपयोगमें रहता है वह तो है शुभोपयोगी मुनि और जो प्रचुरता से शुभोपयोग में रहता है वह है शुद्धोपयोगी मुनि।

अब यह बतला रहे हैं कि जितनी अनुभूति होती है वह सब प्रवृत्ति शुभोपयोगियोंके ही होती है, ऐसा अवधारण करते हैं अर्थात् अपने हृदय में रखते हैं।

उवकुणदि जोवि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समण संघस्स।
काय विराधणरहिदं सोवि सरागप्पधाणो से ॥२४६॥

जो मुनि नित्य चार प्रकारके श्रमण संघका, ६ काय की विराधनासे रहित विधिसे यथायोग वैयावृत्य आदिके द्वारा उपकार करता है वह भी, चतुर्विध संघका सेवक मुनि शुभोपयोगी है।

निर्वाणकी इच्छा भी निर्वाणकी बाधा— देखिए, चाहिए तो निर्वाण और निर्वाणकी भी इच्छा न रहे, ऐसी शुद्धि बने तो निर्वाण होता है। 'मोक्षेऽपि यस्य न कांक्षा स मोक्षमधिगच्छति।' जिसको मोक्षकी भी इच्छा नहीं रहती है ऐसा निरीह साधु ही मोक्षको प्राप्त करता है। यह आत्मा तो मोक्षस्वरूप है ही, किन्तु इस पर पर्दा पड़ा है, वह पर्दा है इच्छाका। मुझे मोक्ष मिले, ऐसी भावना रखने वालेके द्वैतबुद्धि है। अरे जब मैं स्वयं मोक्ष स्वरूप हूं तो मैं अपने से बाहरमें किसीमें मोक्षकी कल्पना करके क्यों सोचूँ कि मुझे मोक्ष मिले? मैं तो मोक्षस्वरूप ही हूं। केवल एक दृष्टिके बंधनसे पराधीनता लगा रखी है। सो इसको दूर कर लें।

लक्ष्यकी अभ्रष्टताकी प्रधानता— शुद्धतत्त्वकी सिद्धिके लिए श्रमण संघोंका वैयावृत्त्यादिक उपकार भी शुभोपयोगमें सम्मिलित हैं। देखिये इस श्रमणने प्रतिज्ञा तो की थी निरीह निःकांक्ष ज्ञाता द्रष्टा रहनेकी, किन्तु यह कर रहा है प्रवृत्ति, सो कोई कहे कि नियमसे भ्रष्ट हो गया होगा। सो भैया ऐसा नहीं है। वह भ्रष्ट नहीं होता। लक्ष्यको छोड़े तो भ्रष्ट है। यह श्रावक जब सामायिक करता है तब यह संकल्प करता है कि मैं दो घड़ी तक राग-द्वेष न करूँ, संकल्प विकल्प छोड़कर समतापरिणामको प्राप्त होऊँ। क्या हो जायेगा समतापरिणाम? कुछ रागद्वेष रहा तो कोई कहे कि नियम तोड़ दिया, सो नहीं। नियम तोड़ना भावात्मक पद्धतिमें तब कहलाता है जब लक्ष्य छोड़े। लक्ष्य तो है कि मैं समता करूँ और सामायिकमें भी रागद्वेष आते हैं तो उनका मुकाबला करो, उनको हटानेकी कोशिश करो। इसी तरह इन श्रमणोंने प्रतिज्ञा तो की है सामायिक संयमकी, किन्तु रख नहीं

सकते हैं, तो छेदोपस्थापना भी लिए हैं। ऐसी यह शुभोपयोगी मुनियोंकी कथा है।

शुद्धलक्ष्यी रागप्रधानी साधुकी योग्य प्रवृत्ति— भैया! इस साधु ने संयमकी प्रतिज्ञा ली थी और संयम कहलाता है ज्ञानमात्र अपने आपका उपयोग बनाए रहना। उत्कृष्ट संयम यही है केवल ज्ञाता दृष्टा रहें। कोई मन वचन कायकी प्रवृत्ति न रहे। संकल्प विकल्प न रहें, यही उत्कृष्ट संयम है। सो साधुने ऐसे संयम की प्रतिज्ञा ली थी, किन्तु ऐसे उत्कृष्ट संयमका निभाना कर्मोंके उदयमें चूँकि कठिन है इस कारण कुछ प्रवृत्ति होती है और जैसे आहार आदिकी प्रवृत्ति होती हो रागवश इसी प्रकार साधु जनों की, धर्मात्मा पुरुषोंकी उपकार करनेकी भी प्रवृत्ति होती है। सो वह प्रवृत्ति अहिंसात्मक होती है, ६ कायके जीवोंकी विराधनासे रहित होती हैं। ऐसे साधुवों की सेवा करते हुए भी लक्ष्य यह रखा जाता है कि अपनी शुद्ध आत्मवृत्तिकी रक्षा करो।

लक्ष्यका लक्षण लक्ष्यमें लक्ष्यका लक्षित बना रहना— जैसे किसीका कोई इष्ट बीमार हो जाये तो चाहे वह किसी प्रसंगमें हो उसको अपनी वासनामें बनाए रहता है। लोग मन भी बहला रहे हों तो भी वह अपना ध्यान नहीं छोड़ता। इसी तरह जिसको शुद्ध आत्माके विकासकी रुचि हो गई है, समस्त लगन एक शुद्धआत्माके अनुभवके लिए ही लगी है, ऐसे साधु पुरुष उपकार भी कर रहे हों वहां पर भी शुद्ध आत्माके विकासका लक्ष्य रहता है। सो ऐसी सारी प्रवृत्ति भले ही सामान्यजनोंके द्वारा प्रशंसाके योग्य है, किन्तु वह प्रवृत्ति रागमय है, रागके कारण होती है, रागप्रधानी शुभोपयोगियोंके ही होती है। शुद्धोपयोगियोंके नहीं होती है।

अब आगे यह बात कह रहे हैं कि प्रवृत्ति योग्य वही है जो प्रवृत्ति संयमकी विरोधी ही होती है, ऐसा किसीका आशय हो तो उस आशयका निषेध करते हैं।

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥२५०॥

प्रवृत्तिमें भी संयमसाधनाका लक्ष्य अनिवार्य— कोई साधु पर शुद्ध आत्माकी वृत्तिकी रक्षाके अभिप्रायसे वैयावृत्त्यकी प्रवृत्तिके द्वारा, श्रमण संघ के उपकारके द्वारा अपने संयमका ही नाश करले तो वह श्रावक हो गया समझिये। साधुजन वहां तक ही सेवा करते हैं जहां तक अपने संयममें विराधना नहीं होती है। इस कारण जो कुछ भी प्रवृत्ति होनी चाहिए वह संयमके अविरोधपूर्वक होनी चाहिए। प्रवृत्ति करते हुए भी संयमकी ही

साध्यताका ध्यान रखना चाहिए।

शुभोपयोगकी साधकता व बाधकता पर एक दृष्टान्त— जैसे कोई पुरुष शिखर जी की वंदनाके लिए चला, पहाड़ पर चढ़ गया, थक गया तो १५ मिनटको किसी पेड़के नीचे बैठ जाता है। अब यह बतलावो कि उसका वहां बैठ जाना यात्राका साधक है या बाधक या साधक और बाधक दोनों ही है। चूँकि १५ मिनट वहीं थमा रहा, १५ मिनट यात्रा रुक गई तो बाधक है। १५ मिनट को यात्रा स्थगित कर दिया ना, इसलिए वह बैठना बाधक है और चूँकि वह थका हुआ था, सो अपनी उस यात्रामें चलनेके लिए, बल प्राप्त करने के लिए विश्राम प्राप्त कर रहा है। तो उस ध्येयके कारण उसका बैठना साधक है। यदि वह बैठता नहीं तो थक जानेके कारण उसे लौट जाना पड़ता।

शुभोपयोगकी सिद्धिसाधकता व सिद्धिबाधकता— इसी प्रकार जो शुद्धोपयोगके मार्गमें लगे हैं, ऐसे साधुसंत जन कदाचित् धर्मात्मावोंकी सेवा में लगें, उपकारमें लगें, शुद्धोपयोगमें रह जायें तो उनका शुभोपयोग सबन्धी कार्य सिद्धिके लक्ष्यमें साधक है या बाधक? तो साधक भी है और बाधक भी है। बाधक तो साक्षात् है कि सामने ही वह रागप्रवृत्ति कर रहा है। रागप्रवृत्तिमें मोक्षमार्ग कहां रखा है? और साधक यों है कि उस शुद्धोपयोगमें लगनेका बल प्राप्त करने का साधन बना रहा है। ज्ञानियोंके समीप रहना, ज्ञानियोंकी सेवामें रहना, उनके गुणोंको देखकर मन ही मन प्रसन्न रहना और गुणानुरागवश मन, वचन, कायकी चेष्टा प्रसादके अर्थ करना यह सब वातावरण शुद्धोपयोगके बढ़ानेका बल प्रदान करने वाला होता है। इस कारण यह साधक है। साधुजन जो कुछ भी प्रवृत्ति करें, करते हैं वे सब संयमके अविरोधपूर्वक ही करते हैं। प्रवृत्तिमें भी संयमकी साधनाका वहां ध्यान रहता है, सो संयमका आघात करना कभी भी योग्य नहीं है।

अब प्रवृत्तिका विषय और विभाग दिखाते हैं—

जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ॥२५१॥

अल्पलेप होनेपर भी कर्तव्यअनुकम्पोपकार— यहां यह बतला रहे हैं कि यह शुभोपयोगी साधु किस प्रकारकी प्रवृत्ति करे? यह साधु अथवा शुभोपयोगी पुरुष दयासहित उपकाररूप प्रवृत्ति करे याने धर्मवात्सल्य करे। यद्यपि इसमें थोड़ासा अल्पदोष होता है, मोक्षमार्गमें लगाने वाले जिनमार्गमें अनुसारियोंको; तो भी यह मोक्षमार्गके आराधनमें इसकी प्रवृत्ति है, इस कारण उसे दोष नहीं कहा गया। लेकिन यह सेवा निरपेक्ष सेवा

होनी चाहिए। अपने स्वार्थ्य को लेकर न हो, किसी विषय बुद्धिको लेकर न हो तो वह उस सेवामें भी उन शुभोपयोगी पुरुषोंको दोष नहीं है।

निरपेक्ष सेवा— निरपेक्ष सेवा क्या कहलाती है कि ख्याति पूजा लाभकी वांछा न हो। कोई पुरुष गुरुजनोंकी सेवा करके ख्यातिकी इच्छा करते हैं। वह सेवा शुभोपयोगमें शामिल नहीं है। वह सेवा तो उसने अपने मनके विषयकी पूर्तिके लिए की है। गुणोंका अनुरागी होकर, गुणोंमें प्रमुदित होकर सेवा बन जाना, यह है वास्तविक शुभोपयोग। कोई ऐसे लक्ष्य से सेवा करे कि इसमें मुझे आराम है, अथवा धनकी प्राप्ति है या झंझटोंसे जिन्दगी बच जाती है आदिक किन्हीं भावोंसे सेवा की जाये तो वह भी शुभोपयोग नहीं है, किन्तु गुरुके गुणोंके स्मरणसे, अवलोकनसे ऐसा प्रमोद हो कि जिससे हृदय फूला न समाये और सेवा बन जाये तो ऐसा वास्तविक शुभोपयोग है। जो शुद्धोपयोगके लक्ष्यसे च्युत नहीं है वह शुभोपयोगी भ्रष्ट नहीं है। ऐसा शुभोपयोगी दोष करने वाला नहीं होता है। किसी भी प्रकार की वाञ्छाओंसे रहित शुद्धोपयोग परिणत साधुजनोंकी या व्यवहार मोक्ष मार्ग परिणत साधुजनोंकी सेवा हो वह शुभोपयोग है। ऐसा शुभोपयोग करना भी साधुजनोंका कदाचित् कर्तव्य है।

ज्ञानीके सेवास्थान श्रावक एवं साधु उभय— सेवा श्रावकोंकी भी करनी चाहिए और साधुवोंकी भी करनी चाहिए। सबकी सेवा जुदे जुदे प्रकारकी है। वे सब सेवाएँ शुभोपयोगमें शामिल हैं। उपदेश देना, पढ़ाना, लिखाना; ये सब साधुजन करते हैं तो श्रावकोंकी सेवा ही तो करते हैं। सो योग्य श्रावकोंको पढ़ाना, लिखाना, उपदेश करना यह भी सेवा कही जा सकती है क्योंकि जो आयोग्य मूढ़, गर्विष्ठ, विपरीत वृत्ति वाले श्रावकोंकी सेवामें जुटे तो वह केवल स्वार्थवश ही हो सकता है और इसे सेवा नहीं कहा जा सकता है और साधुजन साधुवोंको सेवा करें तो वहां भी मोक्षमार्ग के लक्ष्यसे, गुणोंके अनुरागसे तो वह सेवा कही जा सकती है अन्यथा वहां भी स्वार्थवश की जाने वाली सेवा समझिये। इस प्रकार अनुकम्पापूर्वक परके उपकाररूप प्रवृत्ति यद्यपि थोड़े दोष वाली है, मगर अप्रतिषिद्ध है, निषिद्ध नहीं है, की जा सकती है।

सेवास्थानकी विशिष्टता— सेवा किनमें की जा सकती है? अनेकांतकी भिन्नतासे जिनका चित्त पवित्र हो गया है उन शुद्ध जैनोंमें। जैन उसे कहते हैं जिसने खोटे आशय, इन्द्रियोंके विषयकषाय इनको जिसने जीत लिया है उसे कहते हैं जैन। यहां जैन शब्दसे जातिसे मतलब नहीं लेना, किन्तु मोहविजयी, इन्द्रियविजयी ऐसे शुद्ध जैनोंको लेना, जो कि या तो

साकारचर्या कर रहे हैं या अनाकारचर्या कर रहे हैं। उनमें परोपकारकी परिणति हो, सो मुमुक्षुजनोंको योग्य है।

साकार एवं अनाकारचर्या— साकारचर्या किसे कहते हैं? जिस चर्याका रूप लेनेमें प्रकट मालूम पड़ रहा है, जिस पर चलनेसे, काम करने से, बोलनेसे-जिसका चरित्र एकदम स्पष्ट हो जाता है उसे साकारचर्या कहते हैं और अनाकारचर्या वह है कि बड़ा ही सूक्ष्म अध्ययन करनेपर जिसके भीतर चरित्रका पता पड़ता है उसे अनाकारचर्या कहते हैं अथवा साकारचर्या है गृहस्थोंकी और अनाकारचर्या है मुनियोंकी। श्रावकधर्म और मुनि धर्मकी यथार्थताके साथ लगे हुए साधुजनोंमें परोपकारकी प्रवृत्ति होती है। वह यद्यपि अल्पलेप वाली है, लेकिन ध्येय तो यह बना हुआ है कि शुद्ध आत्माकी ही उपलब्धि करना है, समस्त वैभव सब कष्ट ये असार हैं। शुद्ध आत्माकी दृष्टि, अपना सहजस्वरूप निगाहमें बना रहे, बस वही मात्र सारभूत तत्त्व है;- ऐसी दृष्टिके कारण शुद्ध आत्मदृष्टिके अतिरिक्त अन्य सकल-पदार्थोंसे निरपेक्ष हो जानेसे वह सेवा अयोग्य नहीं है।

परसेवामें भी स्वरक्षाका प्रयोजन— ज्ञानी साधु संतोंकी सेवामें भी विषयकषायोंसे दूर होनेका अपना प्रयोजन है। कभी आप देखें, कहीं रोगी भिखारी, दीन पुरुषोंके बीचमें से आप गुजरें तो वहां आपके परिणाम निर्मल होंगे और धनिकोंके बीचमें, समारोहमें, जलमें, शोभा, शृंगारमें बैठें तो आपके परिणाम निर्मल नहीं हो सकते। अपने घरके बच्चोंकी, स्त्रीकी, सबकी सेवामें रहें तो आपके परिणाम निर्मल नहीं हो सकते, किन्तु जिनको आपने अपना नहीं मान रखा है, पर जीव है और उन पर करुणा करें, उन पर दुःख आयें तो उसे दूर करेंगे। तो उस परोपकारके काम में आपके परिणाम विषयकषायोंसे दूर रह सकते हैं और उन साधुजनोंकी सेवामें लगें, जो घररहित हैं, कुटुम्बरहित हैं, इन्द्रियविषयोंके साधन जिन के पास नहीं हैं, जो इन्द्रियविषयोंसे हटे हुए रहते हैं, ऐसे संतोंकी सेवामें लगें।

साधु संतोंकी सेवासे लाभ— देखो भैया! साधु संतोंका वातावरण ऊपरी तो उन दीन पुरुषोंकी भांति है, जैसे जिन दीन पुरुषोंके पास साधन नहीं हैं, इसी प्रकार इन साधु महापुरुषोंके पास विषयोंका कोई साधन नहीं नहीं है, पर अन्तर महान् है, ये भिखारी विषयोंकी उत्सुकता लिए हुए नहीं हैं। कोई किसी भिखारीसे पूछे कि हम तुम्हें कितना धन दे दें तो तुम तृप्त हो जावोगे? क्या ५०० दे दें? वह ओछी बुद्धिके कारण कह तो देगा कि अरे ५०० तो बहुत हो जायेंगे, यदि ५०० दे दो तब तो हम बहुत तृप्त हो जायेंगे, पर जब ५०० दे दिए तो कुछ दिनोंके बादमें पूछो तो उसके आगे

आगे आशा ही खड़ी रहती है। किन्तु साधुजनोंके समक्ष चाहे आप महल बनवा देनेकी बात कहें, बड़ा ठाठबाट जोड़ देनेकी बात कहें, खूब सुखसे रखनेकी बात कहें तो भी परमाणुमात्र उनका भाव गंदा नहीं होगा। साधुके अन्तरंगमें जाकर देखो तो साधुमें गुणोंका निधान मिलता है। वह साधु ज्ञानका धनी है। अनन्त शक्तिके विकासमें वह साधु लगा हुआ है। केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी धुनि समाई हुई है, ऐसे साधुजनोंकी सेवामें कोई लगता है तो उसकी अशुद्ध वृतिसे रक्षा होती है और शुद्ध विकासकी ओर वेग प्रगति होती है।

पात्रसेवा—ऐसे साधुजनोंकी सेवा यद्यपि मन, वचन, कायकी प्रवृति होनेके कारण थोड़े दोप वाली है, लेकिन वह करणीय है, करनी चाहिए। इसके विपरीत मिथ्यादृष्टिजनोंकी सेवामें तो अपने शुद्ध आत्मतत्त्वको रक्षा नहीं होती है। मुमुक्षुको इतनी फुरसत नहीं है कि जो विपरीत वृति वाले हैं, खोटे अभिप्राय वाले हैं, उनको सन्मार्गमें लगानेके लिए उनसे सिर मारें, अपना समय खोवें, किन्तु कुछ भी योग्यता वाले आत्महितार्थी पुरुष मिलते हैं तो चूँकि उनसे बातें करनेमें, उपदेश देनेमें वहाँ भी विकास प्रारम्भ होने लगता हैं और इसे भी अपने पतेकी बात बोलनेका मार्ग मिल जाता है। अतः धर्मरुचि वाले पुरुषोंकी ही साधुजन सेवा सत्कार करते हैं। मिथ्या अभिप्राय वाले पुरुषोंकी सेवासे न तो वहां ही कुछ फर्क पड़ता है और सेवा करने वालेके भी कुछ हित नहीं होता हैं। इस प्रकार शुभोपयोगकी प्रवृत्तिको करणीय बताकर अब यह बतलाते हैं कि किस समय धर्मात्मावोंकी वैयावृत्ति आदिक क्रिया की जाती है।

रोगेण वा छुधाए तण्हणया वा समेण वा रूढं।
देट्ठा समणं साधु पडिवज्जदु आदसत्तीए ॥२५२॥

जो साधु रोगसे पीड़ित हों, क्षुधासे पीड़ित हों, प्याससे पीड़ित हों या परिषहादिकके खेदसे पीड़ित हों तो उन मुनीश्वरोंको देखकर अपनी शक्तिके अनुसार वैयावृत्ति करनी चाहिए।

साधुसेवाका कारण विशिष्ट धर्मानुराग—साधुजन व्यग्र नहीं हुआ करते, फिर भी कभी अपने श्रामण्यसे च्युत होनेका कोई उपसर्ग हो जाय तो उसमें उन्हें कुछ खेद होता हैं। उस समय शुभोपयोगी पुरुषको उसकी अपनी शक्तिके अनुसार वैयावृत्य करना चाहिए। जो पुरुष अपने को मोक्षमार्गमें ले जाना चाहता है उसे यदि दूसरा मोक्षमार्गी पुरुष मिल जाय तो उसको देखकर उसको कितना प्रमोद होता है? इसका अंदाज वही कर सकता है जो स्वयं मोक्षमार्गी है। तास खेलने की रुचि वाले को तास

खेलने वाला मिल जाय तो कैसे गले लगते हैं ? यार बैठो, दो हाथ तो हो ही जाने दो, उसकी सेवा करते हैं, अपना खर्च करते हैं और उसे मिठाई खिलाते हैं क्योंकि उसका दिल उनके लक्ष्यके अनुसार रम गया ना ? इसी तरह जो मोक्षमार्गी पुरुष है, जिसे सदामुक्त सहजज्ञानस्वरूप निज आत्मतत्त्व की रुचि जगी है और जो संसारके सर्वभोगोंसे विरक्त है, ऐसा कोई पुरुष मिल जाय तो वह कितना वात्सल्य करता है ? इसकी उपमा अन्यत्र नहीं मिल सकती है। ज्वारी-ज्वारीके प्रेमसे भी घनिष्ट प्रेम इन मुमुक्षुवोंमें है, पति पत्नीके प्रेमसे भी विशिष्टतर वात्सल्य इन मुमुक्षुवोंमें परस्पर है।

सेवाकाल व निवृत्तिकाल— यद्यपि ये मुमुक्षु जन निरंतर आत्महित मे प्रयत्नशील रहते हैं कि मेरे समाधिवृत्ति ही जगे. समतापरिणाममें ही उपयोग बना रहे। बाह्यमें कोई वांछा इस साधु पुरुषके नहीं होती है। फिर भी उसकी समताको भंग करने का कारण रूप कोई उपसर्ग करदे तो उस समय उसका भी मन कुछ चलित हो जाता है। सो उसकी प्रतिचिकीर्षा करना कल्याणार्थी शुभोपयोगी पुरुषका काम है और बाकी समय तो अपनी स्वयंसिद्ध आत्मवृत्तिको बनाए रहने के लिए केवल निवृत्ति का काल है।

निवृत्तिकी मुख्यताका हेतु— जैसे कोई अपने विशेष काममें लगा हुआ पुरुष अपने कामकी धुनमें रहता है, कोई दूसरी बात सामने आ ही पड़े तो वहां भी चित्त देता है। पर ज्यों ही वह दूसरे कामसे विलग हुआ कि अपनी ही धुनमें लग जाता है। इसी तरह यह शुद्धोपयोगका रुचिया साधु अपनी ही आत्मसाधनाकी धुनिमें लगा है। कदाचित् उसे दूसरोंसे बातें भी करनी पड़े, किसी उपद्रुति पुरुषकी सेवा करनी पड़े, वह करता है पर ज्यों ही वह सेवाके प्रोग्रामसे अवकाश पाता है तो तुरंत ही अपने काम की धुनमें लग जाता है। तो ये साधु पुरुष उन साधुजनोंकी सेवामें लगते हैं। उन श्रावकोंकी उपदेशोंके द्वारा सेवामें लगते हैं, किन्तु जैसे ही वह काम समाप्त हुआ कि अपनी ही आत्मसाधनाकी धुनमें वह आ जाता है। मोक्षमार्गके रुचिया श्रावक संत साधुजनों पर कोई उपद्रव आया हो तो अपनी इस विधिसे उनकी सेवा करना यह तो है प्रवृत्ति काल, किन्तु इस प्रवृत्तिकाल के अतिरिक्त शेष जो समय है सब निवृत्तिकाल है। निवृत्तिकालमें साधुजन आत्मसाधनाके काममें ही जुटे रहते हैं।

गृहस्थोंका आजीविकाकाल व आत्मोद्धारकाल— जैसे साधुवोंके ये दो काम हैं कि धर्मात्मावों पर संकट आ पड़े तो उनकी सेवा करना और उस सेवा करने के कामसे अवकाश हो जाय तो अपनी आत्मसाधनामें जुटना। इसी प्रकार गृहस्थोंके भी ये दो काम हैं। एक तो अपनी आजी-

विका बनाना, रोजगार देखना, पर ज्योंही रोजगार देखे जाने का काम निवृत्त हो जाय तो तुरन्त अपने आत्मस्वभावके कल्याण में, ज्ञानार्जनमें साधुसत्संगमें, सेवामें लगना चाहिए। जैसे साधुवों के प्रवृत्तिकाल और निवृत्तिकाल होता है। इसी तरह श्रावकोंके भी आजीविका काल और आत्मोद्धार काल होता है, इन दो को छोड़कर गप्प सप्प निन्दा. बुराई आदि करना श्रावकोंका काम नहीं है।

भैया ! साधुजनोंको किसी कारणसे अन्य लोगोंसे भी बातें करनी पड़ती हैं तो वे अन्य लोगोंसे याने असंयमी पुरुषोंसे किस कारण से बातें करें ? किस समय करें ? कितनी हद्द तक करें ? इस विषयको इस गाथामें बतलाते हैं।

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा ॥२५३॥

वैयावृत्यके प्रसंगमें कदाचित् असंयतजन वार्ताकी भी करणीयता— रोगपीड़ित साधुजनोंकी, आयुके छोटे और आयुके वृद्ध ऐसे मुनियोंकी सेवा के लिए कभी-कभी अज्ञानी जीवोंसे भी बातें करनी पड़ती हैं, असंयमी जीवोंसे भी बातें करनी पड़ती हैं। सो आत्मसावधानी सहित होकर बातें करें तो उस वार्तालापकी निन्दा नहीं की गई है। साधुजन ऐसे श्रावकोंकी सेवाके लिए कदाचित् असंयमी चरित्रभ्रष्ट लौकिक पुरुषोंसे भी बातें करते हैं, करनी पड़ती हैं पर वे उनसे शुद्धभावोंकी ही बातें करें तो वह चर्या निन्दाके योग्य नहीं है। यह सब शुभोपयोगका प्रकरण चल रहा है कि साधुजनोंको ऐसा भी करना पड़ता है, किन्तु वे करते हैं रोगी आचार्य, रोगी गुरु, बाल-मुनि, वृद्धमुनि इनकी सेवाके वास्ते। शुभभावोंको करना चाहिए इसका तात्पर्य यह है कि अपना प्रयोजन निकालनेके लिए बातें करें अर्थात् जिन साधुवोंकी सेवा करना है उनकी सेवाका प्रयोजन निपट ले इस आशयसे बातें करें, किन्तु इतना ढुलक कर, आकर्षित होकर उनसे बातें न करें जिसमें संयमका लक्ष्य भी छूट जाय।

असंयतजनवार्ताका प्रयोजन— किसकी सेवाके लिए साधुपुरुष बातें करते हैं ? जिसने शुद्ध आत्मामें रहनेकी ठान ली है ? ऐसे जो रोगपीड़ित गुरुजन बालमुनि वृद्धमुनि हैं उनकी सेवाके ही वास्ते। जो शुद्धआत्मवृत्तिसे रहित हैं ऐसे मनुष्योंसे भी सम्भाषण करना उक्त प्रयोजनमें अप्रतिषिद्ध है, पर अन्य प्रयोजनके लिए बातें न करें। साधुपुरुषको कभी ऐसी बात आवश्यक हो जाय कि असंयमी जनोंसे कुछ बोले बिना इस महान् पुरुषकी सेवा नहीं हो सकती है, इस उद्देश्यसे तो असंयमीजनोंसे बातें करलें. पर

और प्रयोजनके लिए बातें न करें। क्योंकि लौकिक जनोंसे सम्भाषण करते रहनेकी जो आदत है वह संयममें शिथिलता लानेका कारण है इसलिए असंयमीजनोंसे सम्भाषण आत्माको संभालकर करना साधुओंका काम है। ऐसा कोई मौका आ ही जाय कि असंयमीजनोंसे बातें भी करनी पड़ें तो भी तो अन्य साधुजनोंकी आवश्यक सेवाके लिए करें, पर और प्रयोजनके लिए न करें।

आत्मसावधानीकी प्रधानता— उपदेशोंमें यह भी बात आई है कि जो अति अयोग्य पुरुष हैं, जो विपरीत वृत्ति वाले हैं उनके लिए उपदेशके चक्करमें भी न पड़ें। उपदेश दिया जाता है योग्य पुरुषोंको, जो कुछ भी योग्य हों उनको उपदेश दिया जाता है। जो बिल्कुल विपरीत वृति वाले हैं उनके लिए उपदेश करें तो अपना समय गवांना है। उन्होंने मोहकी मदिरा चूंकि तेज पी रखी है इसलिए वहां कुछ उपदेशका असर न होगा। जैसे कोई ऐसी शंका कर सकता है कि जो अत्यन्त भ्रष्ट हैं, गिरे हैं, विपरीत वृत्ति वाले हैं उनको उठानेका तो पहिले काम होना चाहिए? उतर— साधु संतोंको तो इतनी फुरसत ही नहीं है कि वे ऐसे अयोग्य असंयमी विपरीत वृति वाले पुरुषोंमें खूब समय खर्च किया करें और अपने उपयोगको गड़बड़ बनाएँ। उनसे तो किसी सहजचर्यासे किन्हींका उपकार बनता है तो वे उपकार करते हैं, यह भी शुभोपयोगकी प्रवृत्ति है और ऐसे शुभोपयोगी भी शुद्धोपयोगियोंसे कम दर्जेके कहलाते हैं। अब इस प्रकार जिस शभोपयोग का वर्णन किया गया है। वह शुभोपयोग गौण रूपसे किसमें रहना चाहिए और मुख्य रूपसे किसमें रहना चाहिए? इसका विभाग दिखाते हैं।

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ता एव परं लहदि सोक्खं ॥२५४॥

शुद्धोपयोग व शुभोपयोगके मुख्य गौणरूपमें पात्रविभाग— यहां जो प्रशस्त शुभोपयोगकी चर्या बताई है वह गृहस्थमें रहना चाहिए प्रधानतासे और मुनियोंमें रहना चाहिए गौणरूपसे। मुनियोंको मुख्यतासे शुद्धोपयोग की वृत्ति करना चाहिए और गौणरूपसे शुभोपयोगकी। गृहस्थके शुद्धोपयोग की वृत्ति मुख्य होना नहीं बन सकती है इस कारण उनके शुभोपयोगकी वृत्ति मुख्यतासे रहना चाहिए। ऐसी शुभराग प्रवृत्ति करके श्रावक उत्कृष्ट सुखको परम्परासे प्राप्त करता है।

भावश्रद्धामें व नीतिवर्तनामें आनन्द— भैया! सत्य श्रद्धामें बहुत ही आनन्दका मार्ग मिलता है। वास्तविक बात तो यह है ही कि कोई हाथ पैरसे या दिमागसे धन नहीं कमाता, यह बात बिल्कुल निश्चित है। पूर्वजन्म

में भावोंकी निर्मलता की थी उस निर्मल परिणाममें जो विशिष्ट पुण्य कर्मका वंध हुआ था उस पुण्यकर्मके उदयमें सहज ही ऐसा योग मिलता है कि थोड़े परिश्रमके फलमें ही आय होने लगती है। ऐसी जिसके श्रद्धा है वह धनकी आयके लिए चिंतातुर नहीं होता है। वह तो यह निर्णय किए बैठा है कि गृहस्थीका गुजारा तो करना ही है, जो आय होती हो उसीमें व्यवस्था बन गई फिर घुटने टेकनेकी कोई बात नहीं रही। हां, यदि ख्याति आदि दृष्टिके और इच्छाके पंख अधिक पसारे तो उसमें यह दुःखी अपनी आदत से हो रहा है। भैया! सर्वोत्कृष्ट जैन शासन पाया तो इसका सदुपयोग करें, प्रभुकी भक्ति करें, आत्माका ध्यान करें, सद्विचार रखें, सब जीवोंमें प्रभु-स्वरूप निहारें तो अपने आपही यह आत्मा महान है धनसे कोई आत्मा महान् नहीं होता है। आत्मा महान् होता है रत्नत्रयसे। श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र निर्मल हो तो महान् है। वैभवसे महत्ता नहीं होती है।

संकटोंका विश्लेषण— जिसको वस्तुस्वरूपकी समीचीन श्रद्धा है ऐसे पुरुषको संकट कोई होते ही नहीं। क्या संकट है? पुरुष जो भी संकट बतायेगा वह अपने कपायकी ही बात जाहिर करेगा। वस्तुतः संकट कुछ नहीं है। इष्टका वियोग हो गया, अनिष्टका संयोग हो गया या शारीरिक वेदना हो गई या अपनी इच्छा बढ़ाली, चार ही तरहके तो दुःख हैं। इन चारोंमें से यदि कुछ जबर्दस्तीके दुःखकी बात है तो वह वेदनानुभव है। शरीर का आत्माका एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है और शरीरमें वेदना होती है तो वह सहन नहीं की जा सकती है। सो थोड़ा संकट वेदनाका मान लिया मगर बाकी जो तीन आर्तध्यानके संकट हैं वे तो विकल्पोंसे बना लिये गये हैं।

कल्पनोद्भव संकट— इष्टका वियोग हो गया तो संकट क्या है? किसी पदार्थमें इष्टताका नाम खुदा है क्या कि ये पदार्थ हमारे लिए इष्ट हैं और मेरे हैं? किसी परमाणुमात्रमें भी इष्टपनेका नाम खुदा हो या कोई तय हो कि यह आपकी ही चीज है तो बतलावो और शरीरमें आते जाते, बिछुड़ते रहते इन पदार्थोंमें से किसी पदार्थमें इन पदार्थोंमें से किसी पदार्थ में यह कल्पना कर डाली कि यह मेरा इष्ट है। कल्पना ही तो की। तो इष्ट का जो वियोग हुआ उससे आत्मापर क्या संकट है? कल्पना करते हैं व्यर्थकी, मोहकी, उससे ही इसे क्लेश होते हैं। अनिष्टका संयोग हो गया? क्या संकट हो गया। किसीका परिणाम मुझसे विरुद्ध है अथवा कोई मेरे किसी प्रकारके अहितके लिए उतारू है ऐसा पुरुष आ गया, इसी को तो अनिष्ट संयोग कहते हैं। क्या संकट हुआ? तुम अभी अपनी कल्पनाको त्याग दो लो संकट अभी मिटे हुए हैं।

परमें अनधिकार— आप चाहें कि बाहरी पदार्थ यों परिणम जायं तो मेरे संकट मिट जायें तो बाहरी पदार्थोंपर तो अधिकार है नहीं। बस चल सकता है तो अपने पर ही चल सकता है। जैसे लोग कहते हैं ना, अगर पड़ोसीके बच्चेमें और अपने बच्चेमें लड़ाई हो जाये तो कहते हैं कि दूसरेके बच्चे पर मेरा कोई अधिकार नहीं। अपने बच्चेको डांट डपट कर रखो, इसको सही बनाओ। दूसरेके बच्चेपर क्या अधिकार? मेरे बच्चेपर ही मेरा क्या अधिकार? वह बच्चा मेरी कुछ चीज नहीं है। तुम अपने तन मनको डांटते रहो। अपने तनमन पर भी तो कोई अधिकार नहीं है। सो इस पर मेरा क्या अधिकार। तुम अपने ज्ञान बलको बढ़ाये रहो सारे संकट मिट जायेंगे।

स्वप्नका साहस— एक दफे छात्र अवस्थामें हमारे खूब तेज बुखार आया, तो बहुत सी रजाइयां भी कई लड़कोंकी ओढ़ लीं, पर भीतरमें वही जाड़ा और वेदना। बहुत देर तक कांपते रहनेके बाद कुछ थोड़ी सी झपकी आ गई तो उस सोते हुएमें मैंने दो स्वप्न देखे। वे दोनों स्वप्न हमें अब तक याद हैं। एक स्वप्न तो यह आया कि मैं पड़ा हूं और मेरे ऊपरसे रेलगाड़ी चली जा रही है। उस समय सोये हुएमें ही अपने आपमें ऐसी हिम्मत बढ़ी जैसे कि शरीरको कुछ कड़ा बना लिया जाता है ना? सो अपने शरीरको कड़ा कर लिया। गाड़ी निकल गई। फिर बादमें नींद खुली। यह तो स्वप्न की हिम्मत है। इतना बड़ा बोझ स्वप्नमें कैसे सह लिया कि अपने शरीरको कड़ा कर लिया। इसी प्रकार जगत्के सारे संकटोंको कैसे सहा जा सकता है कि अपने आपके आत्माको ज्ञानसे कस कर कड़ा होकर रह जाये तो सारे संकट उसके लिए आसान हैं। वे सब संकट सहे जा सकते हैं।

स्वप्नकी डाट— नींद खुलनेपर फिर थोड़ी देरको झंप गए तो ऐसा स्वप्न आया कि हम तालाबमें पड़े हैं और किसी शक्तिके कारण तालाबमें नीचे डूबे हुए हैं सो जितनी देर डूबते बना डूबे रहे पर जब स्वांसने गवाह न दिया तो अपने बलसे तेजीसे तालाबके ऊपर आये जब सिर बाहर निकला तो बहुत बड़ा मुनिसंघ सड़कपर जाते देखा और भान ऐसा हुआ कि श्री नेमिनाथ भगवान हैं ये संघसहित। फिर किसी शक्तिने डुबो दिया फिर फिर शरीरको कड़ा करके निकला तो वैसा ही फिर देखा इसके बाद नींद खुल गई। इसके बाद फिर इतना तेज पसीना आया कि उस दिनसे फिर बुखार नहीं आया। तो जब अपने आपको डाटा, यह तो स्वप्नकी बात है। ज्ञानबलसे अपने आपकी आत्माको डांटकर रह जाय तो ये संकट कुछ सता नहीं सकते।

शिथिलताका फल शिथिलताका प्रसार-- मन ढीला किया तो संकट बढ़ा लेते हैं। जैसे कीचड़ वाले रास्तेपर धीरे धीरे संभल संभलकर पैर रखते हैं क्योंकि कदाचित् फिसल न जायें। अगर जरा भी असावधानी की तो फिर गिर जायेंगे। इसी तरह मनकी स्वच्छन्दताके सब संकट हैं। अगर मनको स्वछन्द कर दिया, मनको बढ़ा दिया तो दुःख सामने आ जाते हैं। संकटोंकी उत्पत्ति पदार्थोंसे नहीं है। संकट उत्पन्न होते हैं तो अपनी आत्म भूमिकामें ही वे हैं भ्रमकी तरंगें। तो इन संकटोंसे दूर होनेके लिए श्रावक अवस्थामें शुभोपयोगकी मुख्यता की गई है। जबकि उन संकटोंसे दूर होने के लिए मुनियोंको शुद्धोपयोगकी वृत्तिका उपाय बताया गया है। शुभोपयोग क्या कहलाता है कि शुद्ध आत्माके अनुरागका सम्बन्ध रखने वाली जो शुभ चर्या है उसको शुभोपयोग कहते हैं। सो शुभोपयोग महाव्रतका धारण करने वाले पुरुषोंमें भी कपायकण सद्भाव होनेसे रहा करता है।

साधुवोंके शुभोपयोगकी गौणताका कारण— यद्यपि साधु पुरुषोंने ऐसा व्रत धारण किया है, जो शुद्ध आत्मतत्त्वका प्रकाशन करने वाला है तो भी कषायकण शेष है, इस कारण उनके शुभोपयोग गौणरूपसे होता है क्योंकि यह शुभोपयोग भी शुद्धोपयोगसे विरुद्ध है। शुद्ध आत्मवृत्तिसे विरुद्ध रागके साथ जुड़ा हुआ है सो मुनियोंका गौणरूपसे बताया है किन्तु गृहस्थजन चूंकि उनके समस्त विरक्ति नहीं है, महाव्रत नहीं है सो शुद्ध आत्मतत्त्वका प्रकाश नहीं बना रह सकता। सो कपायका सद्भाव होनेसे उनके शुभोपयोग अधिकतर बना रहता है। श्रावकोंकी चर्या गुरुवोंकी उपासना करना, धार्मिक संस्थानोंका पालन करना और गरीब बंधु हों तो उनकी गुप्त सेवा करना और महापुरुष हों तो उनका आदर सम्मान करना, इत्यादि प्रकारसे श्रावक कितने ही प्रकारके शुभोपयोगको करते हैं। गृहस्थी का शुभोपयोगकी विशेषतामें धार्मिक समय व्यतीत होता है, तो साधुजनों का शुद्धोपयोगकी वृत्तिमें व्यतीत होता है। कोई श्रावक किसी श्रावकसे जै जिनेन्द्र करे, उसके उत्तरमें कुछ बात न मिले तो वह बुराईका कारण बनता है और साधु पुरुषोंसे कोई बात करे और वह न बोल सके तो उसकी बुराई नहीं होती है कारण कि वह शुद्धोपयोगकी वृतिमें प्रधानतासे रहता है। जैसे एक स्फटिक कांच होता है जिसे आकसीऐना कहते हैं। उससे सूर्यकी किरणें केन्द्रित हो जाती हैं और उससे आग पैदा हो जाती है। स्फटिकमें जलानेका स्वभाव नहीं है। देखो सूर्यकी किरणोंका उसमें सम्बन्ध होता है तो उसका प्रभाव होता है कि चीज जल उठती है। तो चीजका जल जाना, ऐसा विरुद्ध काम हो जाना यह सूर्यकी किरणोंके सम्बंधसे हुआ

है सो यह धर्मपालन निर्वाण सुखका स्वभाव वाला है। पर निर्वाण सुखके मार्गमें लगे हुए पुरुषके इस शुभोपयोगमें रागका सम्बंध होनेसे उतने काल का कितने ही अंशोंमें उस अशुद्ध परिणमनरूपसे अनुभव होता है इस कारण वह शुभोपयोग निर्वाण मार्गका बाधक है।

कदाचित् शुभोपयोगकी उपादेता— शुभोपयोग यद्यपि निर्वाणमार्ग का बाधक है तो भी एक दृष्टिसे परम्परया साधक भी है। जैसे यात्रामें भी जाने वाले पुरुषको थकान आ जाये तो पहाड़ पर किसी पेड़के नीचे १५ मिनटको बैठ जाता है उसका बैठ जाना यात्राका एक दृष्टिसे साधक कहा जाता है। क्योंकि थका हुआ वह पुरुष अपने थकानको यह सोचकर दूर कर रहा है कि मुझमें वही बल फिरसे बन जाये कि यात्रा करलें। इसी प्रकार निष्कषाय मार्गमें चलने वाले पुरुषके कषायकी थकान हो जाय तो कषायसे थका हुआ पुरुष शुभोपयोगमें आराम करता है। कहीं हमारा यह वेग खोटी जगह न जाकर पड़े सो शुभोपयोगका आश्रय लेता है और उतने खोटे समयको शुभोपयोगमें बिता देता है। फिर अपने आपमें बल प्रकट करके शुद्धोपयोगमें लग जाता है। इसलिए शुद्धोपयोग ही परम निर्वाण सुखका कारण होनेसे मुख्य है और गृहस्थजनोंका परम निर्वाण परम्पराका साधक होनेसे शुभोपयोग मुख्य है। श्रावकोंमें मुख्यता होनी चाहिए शुभोपयोगकी और साधुजनोंकी मुख्यता होनी चाहिए शुद्धोपयोगकी।

शुभोपयोगकी मुख्यता व गौणत्वका हेतु—इस शुभोपयोगकी मुख्यता और गौणताका यहां वर्णन किया गया है। साधुजन तपस्वियोंकी वैयावृत्ति करते हुए शरीरकी वे सुश्रूषा करते हैं, धर्मोपदेश देते हैं, बाकी औषधिदान अन्नदान, पानदान करना यह गृहस्थोंके आधीन है। तपस्वीजन तपस्वियों की सेवा कर सकें तो उनकी थकान मिटा दें, हाथ पैर दाब दें, सिरमें चम्पी करदें, या मधुर वचन बोल दें, धर्मचर्याकी बात करदें इसके अलावा और तपस्वीजन क्या उपयोग करें। वे स्वयं भोजन न बना लेंगे। वे स्वयं अन्य आरम्भ नहीं करते। सो इस दृष्टिसे देखलो कि सेवाका काम मुख्यतासे गृहस्थोंको पड़ता है और साधुजनोंको गौणरूपसे पड़ता है। पात्रविशेषोंमें शुभोपयोग व शुद्धोपयोगकी मुख्यता व गौणताका द्वितीय कारण—दूसरा कारण यह है कि निर्विकार चैतन्य चमत्कारमात्रकी भावना ही तो उत्तम चीज है और इससे विपरीत जो आर्त रौद्र ध्यान है, जो विषय और कषाय के भावोंसे उत्पन्न हुआ उस आर्तध्यानमें लगे हुए गृहस्थजनोंको निश्चल धर्मका अवकाश नहीं है क्योंकि वह आत्माश्रित है और गृहस्थजनोंकी आत्माश्रितता बढ़ नहीं सकती तब वैयावृत्य करके धर्मात्माजनोंकी सेवा

करके खोटे ध्यानसे बचनेका अवसर पाते हैं और तपस्वीजनोंके संसर्गसे उनके निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्गका उपदेश प्राप्त होता है। इस पद्धतिसे वह परम्परासे निर्वाणको प्राप्त करता है।

शांतिके अर्थ गृहस्थके प्रधान कर्तव्य— गृहस्थजनोंकी चर्यामें मूल चर्या तो यह होना चाहिए कि यह विश्वास अटल रखा जाये कि मेरे हाथ पैर, दिमाग धन नहीं कमाते हैं। पुण्योदयवश यह धन आता है, इसको आना पड़ना है। तो हम पहिले अपनी आवश्यकताका प्रोग्राम नहीं बनायें क्योंकि पहिले आवश्यकताका प्रोग्राम बनानेसे फिर धनसंचयकी तृष्णा बन जाती है, किन्तु धनका लाभ कितना है? उसको ही देखकर अपनी आवश्यकताओंके प्रोग्राम बनाएँ। यदि वैभवकी आय विशेष हो तिसपर भी एक गरीब बंधु जितने ढंगसे अपना गुजर कर सकता है, अधिकसे अधिक ड्योढ़ा या दूना ढंग बना लिया जाये। पर यदि धनका लाभ है और उसे केवल अपनी शान, शौक आडम्बरोंमें ही खर्च किया जाये यह गृहस्थजनोंको उचित नहीं है। सात्त्विक वृत्तिसे रहनेमें दो लाभ हैं। एक तो यह लाभ है कि कदाचित् पुण्य इस जीवनमें साथ न दे तो सात्त्विक वृत्तिसे रहनेमें फिर शरम तो न आयेगी। दूसरा लाभ यह है कि सात्त्विक वृत्तिसे रहनेपर जो आपका धन शेष बचे उसको परोपकारमें लगाकर अपने आपमें अलौकिक अद्भुत प्रसन्नता बढ़ावें। ऐसे कई कारणोंसे श्रावकोंका कर्तव्य है कि सात्त्विक वृत्तिसे रहें और शुभोपयोगकी मुख्यतासे अपने चर्या बनावें।

अब क्या बतलाते हैं कि कारण विपरीत मिले तो शुभोपयोगका फल भी विपरीत होता है।

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणिहि बीयाणिव सस्सकालम्हि ॥२५५॥

विपरीतके आश्रयका विपरीत फल— यद्यपि भक्तमें राग प्रशस्त है उसकी कल्पनामें कोई बेईमानी नहीं है लेकिन उसके रागका कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु ऐसा कोई विपरीत आश्रय बने तो उसको शुभोपयोग विपरीत फल देता है। शुभोपयोग करके और तपस्यायें करके गृहीत मिथ्यादृष्टि जीव भी बारहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होता है। जिन्हें आत्मा अनात्माका यथार्थ भेद विज्ञान नहीं है किन्तु मन्द कषायसे, तपस्यायें करके सद्व्यवहारसे रहते और कुछ धर्मके नाम पर धार्मिक दृष्टि बनाते हैं ऐसे साधु संतजन भी मंद कषायोंके फलमें १२वें गुणस्थान तक उत्पन्न होते हैं।

पात्रभेदसे फलभेद— ये दान, पूजा आदिक प्रशस्त राग, जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेदसे विभिन्न पात्रोंके आश्रयसे भिन्न भिन्न फलको भी देते

है। जैसे जिस प्रकारकी भूमिमें बाज बोया जाता है तो धानकी उत्पत्तिके समयमें उस उस प्रकारके फल होते हैं। कोई भूमि ऐसी है कि जितने बीज बोवो उतने भी न हासिल होंगे। कोई भूमि ऐसी है कि जितने बीज बोवो उतने हासिल हो जायें और कोई भूमि ऐसी होती है कि जितने बीज बोवो उससे कई गुने बीज हासिल हो जायें। इसी प्रकार भक्तके कितना मंद कषाय है कि वह अपने गुरुके लिए अपने सर्वस्व सौंप देता है। पर यदि वह गुरु ही अंधकारमें है, मिथ्यादृष्टि है तो उनकी उपासना करने वाला कहां सन्मार्ग पायेगा। वह भी तो जैसा गुरुका प्रवर्तन है उसके अनुकूल प्रवृत्ति करेगा। गांजा भांग घोटने पीने वाले साधुवोंके पास भी कुछ भक्त सज्जन भी पहुंचें ऐसे भक्त कि जिनके कुछ स्वार्थ नहीं है कि उनके किसी काम की सिद्धि हो किन्तु एक गुरुभक्ति का ही ख्याल है और उनके लिए चाहे चिलममें गांजा भी भरकर दें तो भी वे अपनेको उनका भक्त समझते हैं। तो विपरीतकी भक्तिसे सन्मार्ग कैसे मिलेगा ?

भक्तिका अर्थ—भक्ति कहते हैं रीझनेको। यदि कोई मनुष्य स्त्री पर रीझा है तो वह स्त्रीका भक्त है। देखो भैया ! भक्तशब्दका अर्थ कोई अच्छा या बुरा नहीं है उसका अर्थ है अनुरक्त हो जाना, रीझ जाना, आकर्षित होना, किसीके ऊपर न्योछावर हो जाना। भक्ति प्रभुकी करलो, स्त्रीकी करलो, पुत्रकी कर लो, धनकी कर लो, कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुकी कर लो। भक्ति शब्द एक सामान्य शब्द है। ऐसे भक्तके चूंकि कषाय मंद है सो कुछ पुण्य तो हो जायेगा, पर निर्वाण नहीं हो सकता है और न सातिशय पुण्य हो सकता है।

भूमिकाके अनुसार सिद्धि— जैसी भूमिमें बीज गिरता है अनाज उस ही प्रकारसे उत्पन्न होता है। इसी प्रकार जैसे पात्रोंमें शुभोपयोग की गति है वैसा ही इसे भिन्न-भिन्न फल मिलता है। जैसे कि किन्हीं बीजोंकी उत्पत्ति भूमिके विपरीत होनेसे विपरीत होती है। उल्टी होती है, इसी प्रकार प्रशस्त राग किया गया है सो शुभोपयोगके संगके कारण उलटा फल प्राप्त होता है। तो ठीक ही है। कारण विशेष होनेसे कार्य विशेष अवश्य होता है।

सामान्य व विशेषमें महत्त्व किसका— अच्छा, विशेष महत्त्वशाली चीज है या सामान्य, इसका ही निर्णय करलो। महत्त्वशाली चीज क्या है ? विशेष या सामान्य ? विशेष बहुत बड़ी आपत्ति है, बड़ा संकट है, अकल्याण है। विशेषसे ही यह जगत् बरबाद हो रहा है। इस जीवने विशेषको तो चाहा उनमें अनुरक्त रहा, पर सामान्यकी दृष्टि तक भी नहीं की जो शांतिका साधन है। अब इस समस्त विशेषका स्रोतरूप आधाररूप जो यह चेतन

सामान्यतत्त्व है। इस चेतन सामान्यके निकट होने वाले विशेषपर दृष्टि दी जाये तो जैसे-जैसे आप अधिक-अधिक विशेषमें पहुंचेंगे वैसे-वैसे आनन्द निधान सामान्य स्थानसे दूर होता चला जायेगा। मोहीजनोंके लिए तो विशेष महत्वशाली चीज है और ज्ञानी जनोंके लिए सामान्य महत्वशाली तत्त्व है।

सामान्यकी महत्तापर अनुभूत वैज्ञानिक प्रकाश—मनुष्य जब भी विश्राम पाता है तो विशेषसे हटकर अपेक्षाकृत सामान्य स्थितिमें आता है तो विश्राम पाता है। कोई बड़ा झगड़ा हो जाये तो शांतिके लिए, विश्रामके लिए कहा जाता है कि बस अब रहने दो, सब झंझटोंको छोड़ो, जैसा हुआ सो हुआ, भूल जावो, गम खावो। वह गम क्या है? उस विशेषका आकर्षण छोड़कर हम सामान्य की स्थितिमें आ जायें इसीका अर्थ है गम खाना। जैसे-जैसे कारण विशेष मिलेगा, विपरीत मिलेगा वैसे ही वैसे कार्य विशेष होता है। साहित्यकी शैलीमें क्या और लोकमें क्या, जो परिणतिके रुचिया पुरुष हैं उनके लिए विशेषका महत्त्व होता है और जो हितके रुचिया पुरुष हैं उनके लिए सामान्यका महत्त्व होता है।

विशेष व सामान्यकी भक्तिका फल—किसीसे राग विशेष करोगे तो आकुलतावोंमें पड़ जावोगे। जब विश्राम मूलसे होता है तब पहिलेकी स्थितिमें याने राग विशेषकी अपेक्षा छोड़कर राग सामान्य पर या अविशिष्ट स्थितिमें रहता है या नहीं? राग विशेषमें रहकर कोई अनाकुल नहीं रह सकता। यह चित् सामान्य अर्थात् अपने आपकी सत्ताके कारण जो सहजभाव होता है वह ही गुप्त होकर सब विकासोंका जो मूल बैठा है इसको ही परमात्मा कहते हैं। यह शुभोपयोग इस परमात्मतत्त्वमें जाय तो मोक्षमार्ग भी है और परम्परया मोक्ष भी मिलेगा, सातिशय पुण्य भी होता है अर्थात् व्यक्तरूप देव, शास्त्र, गुरुमें शुभोपयोग जाय तो वहां कुछ थोड़े रूपमें ही सही मोक्षमार्ग भी रहता है और सातिसय पुण्यका बंध ये दोनों बातें होती हैं, किन्तु कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुमें भक्ति हो, अनुराग हो तो उससे सामान्य पुण्य बंध तो हो जायेगा पर न तो सातिसय पुण्य होगा और न मोक्षमार्ग मिलेगा।

जिनको आत्मसमर्पण किया जाये उनके निर्णयकी अनिवार्य आवश्यकता—भैया! भक्ति तो की जाये, शुभोपयोग तो किया जाय किन्तु किसका आश्रय करके शुभोपयोग करना है—इसका निर्णय कर लिया जाय। बाजारमें एक आनेकी हंडी खरीदना है तो उसकी भी परीक्षा करके खरीदते हैं। पहिले ठोका पीटी कर लेते हैं। जब यह निर्णय हो चुकता है कि यह

हंडी या मटका पक्का है तब उसे खरीदते हैं। जरासी ठोकरसे फूट जाने वाली और अत्यन्त अल्पमूल्य वाली चीजकी तो परीक्षा करके लेते हैं और जो आश्रय हमारे दुःखोंका और आनन्दका फैसला करने वाला है, सदाके लए संसारमें रुलाता रहे या सदाके लिए संसारसे छुड़ादे, ऐसा आश्रयभूत जो देव, शास्त्र, गुरु हैं, उनका बिना निर्णय किये, बिना परीक्षा किए उनसे अपना सिर नारियल की तरह फोड़ते रहें तो सोचो तो सही कि क्या तुम विवेकका काम कर रहे हो? ऐसा निर्णय तो होना ही चाहिए कि मेरी भक्तिका आश्रय होने योग्य देव कौन हो सकता है और शास्त्र एवं गुरु कौन हो सकता है?

स्वामी समन्तभद्रजी की परीक्षा प्रधानता— स्वामी समन्तभद्रने भगवान्‌की इसलिए नहीं पूजा की कि उनके पास देवता आते थे। उनका विश्वास था कि देवतावोंका आना तो इन्द्रजालियोंके पास भी हो सकता है। भगवान् आकाशसे चले गए, स्वामी जी पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। आकाशमें तो मायावी पुरुष भी चल सकते हैं। छत्र चमर भी ढुलते थे, पर सोचा कि यह तो मायावी पुरुष भी कर सकते हैं। देखो रावणके समयमें इन्द्र नामके राजाके ऐसी धुनि सवार हुई कि हम अपनी सारी रचना स्वर्ग जैसी बनायेंगे तो अपने नगरमें चारों दिशावोंमें बड़े-बड़े पहलवान राजा बैठाल दिये। उनको दिक्पाल बना दिया और अपने नगरमें रहने वाले मनुष्योंको वह देव कहने लगा और खुदका नाम तो इन्द्र रखा ही था। नरक की रचना इन्द्रने कैसी बनायी थी? अपराधियोंको दण्ड देने के लिए पुराणोंमें लिखा है कि बहुत गहरा गड्ढा बना दिया था और उस गड्ढेके अन्दर पड़े हुए व्यक्तियोंको खाने पीनेको कुछ ऊपरसे छोड़ दिया जाता था। तो उसक ऐसी धुनि हुई थी कि हम इन्द्र कहलायें। तो ऐसा आडम्बर तो छत्र चमरों जैसा कोई मायावी पुरुष भी कर सकता है।

अन्य परीक्षायें व प्रभुकी महत्ताका हेतु— भगवान्‌का शरीर बड़ा सुन्दर धातु उपधातु रहित स्फटिक की तरह निर्मल होता है। इस शरीरके कारण समन्त भद्रपर कोई असर नहीं पड़ा। ऐसा शरीर तो देवी देवताओं के भी हो सकता है। वैक्रयिक शरीर, जिसके पसीना नहीं, रोग नहीं, भूख प्यास नहीं, यहां तक कि भगवान् अरहंत जिनेन्द्र भगवान् ने एक जेन शासन चलाया। इससे भी उन पर प्रभाव नहीं पड़ा। सभी धर्मोंके भगवान् अपना-अपना धर्म चलाते ही हैं। इन सब कारणोंसे भगवान्‌की महत्ता है तो एक ही बातसे कि उनके राग नहीं है, द्वेष नहीं है, मोह नहीं है, अज्ञान नहीं है। वह भगवान केवल शुद्ध ज्ञान विकासरूप है। इस स्वरूपका ही

उनपर असर पड़ा और बाकी चमत्कारोंका समन्तभद्रने कोई मूल्य नहीं किया।

जिनेन्द्रदेवकी पूज्यताका कारण— भैया! अब देखिये कि स्वामी समंतभद्रने कैसे समझा उनको कि ये जिनेन्द्र निर्दोप हैं या कोई आत्मा निर्दोप है? समाधान जिनकी परम्परासे चले आये हुए वचनोंमें न तो परस्पर विरोध हो, न शास्त्रोंका विरोधका विरोध हो। सो केवल उन वचनों से ही यह जाना जा सकता है कि उपदेशके मूल प्रणेता प्रभु निर्दोप हैं। आप कैसे जान जाते हैं कि इस भैयाका स्वास्थ्य अच्छा है। न जुकाम है, न कोई ज्वर है। कैसे आप जानते हैं? बाहर ही खड़े हुए आप बोलीसे वचनोंसे बता देते हैं। यदि मलिन स्वरका व कँपकपी स्वरका वचन निकले तो इसके सर्दी है, इसके जुकाम है, इसके बुखार है, यह समझ जाते हैं और निर्दोष स्पष्ट वचन निकलें तो आप जान जाते हैं कि इसके न बुखार है, न सदो है, न कोई रोग है। तो जैसे निर्दोप वचन शरीरकी निर्दोषताका अनुमान कराते हैं, इसी प्रकार निर्दोष उपदेश उपदेशककी निर्दोपता का अनुमान कराते हैं। कौन मूल उपदेष्टा है? तीर्थंकर देव।

जैनवाणीमें सारके जाननेकी पात्रता— उन उपदेशोंमें क्या रत्न भरा हुआ है, इसे स्पष्ट जानते गणधरादिक संत। समुद्रमें कैसे रत्न पड़े हैं, इसको तो समुद्रमें डुबकी लगाने वाले और भीतर-भीतर विहार कर सकने वाले पुरुष ही जान सकते हैं। जैसे लोक प्रचलिक कथामें कहते हैं कि रामरावण युद्धके समय बंदरोंने समुद्रको लांघकर रावणसे युद्ध किया। तो उन बंदरोंने समुद्रको लांघ तो लिया होगा, कल्पना कर लो नहीं लांघा जा सकता, फिर भी लांघ लिया पर समुद्रमें कितने रत्न भरे पड़े हैं क्या इसका भी ज्ञान उन बंदरोंने कर लिया? नहीं। समुद्रके लांघने से उसमें भरे हुए रत्नोंका ज्ञान नहीं हो सकता है। इसी तरह ऊपरी बातोंसे समझने से और अनेक शास्त्रोंके पन्ने पढ़ कर फाड़ देनेसे या मर्मका स्पर्श न करते हुए विद्याको रट लेनेसे इस शासनके मर्मका पता नहीं चल सकता। और जिस शासनमें अवगाह करेगा वह शासन कहां है? अपने आपमें। जो अपने आपमें मग्न होगा, सर्व बाह्यपदार्थोंसे उपेक्षा करके परमविश्राम को पायेगा उसे जो अनुभव होगा उसके बलेसे फिर शास्त्रोंके सब रहस्योंको और रत्नोंको पहिचान जायेगा।

ज्ञान और भक्तिका प्रसाद— यह शुभोपयोग जब कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुमें लगता है तब तो यह विपरीत फल देता है। सो उससे बचनेके लिए और व्यर्थके श्रमसे हटनेके लिए वस्तुस्वरूपका ज्ञान करना है। धर्मके लिए

बड़ा श्रम करना है, पर विधिपूर्वक धर्मका श्रम करें तो यह श्रम कई गुणा फल देगा। धर्मपालनके लिए मुख्य दो ही तो विधियां करनी हैं—एक ज्ञान और दूसरी प्रभुभक्ति। इन दोनों विधियोंको बड़े विवेकपूर्वक करें, उतावले न बनें, रूढ़िवश न करें, आगे इसके लिए समझ आये इन बातोंसे न करें, ये समझने वाले लोग कुछ शरण नहीं होते। किन्हींको बतानेके लिए या अपने आपके मनको खुश रखनेके लिए यह काम नहीं है किन्तु लोकमें सर्वोत्तम मंगलसार और शरण जो शुद्ध चैतन्य प्रभु है उसके दर्शनके लिए ही यह सब हमारा धर्ममें श्रम है, पुरुषार्थ है।

ज्ञानार्जन कर्तव्यकी प्रधानता—भैया! अब फिरसे सोचिये। अपने को धर्मपालनार्थ दो काम करने हैं— ज्ञान और भक्ति। इन दोमें भी भक्ति तब हो सकती है कि जिनकी भक्ति करते हैं उनका विशद ज्ञान हो, तब मूल में एक बात रह गई। वह क्या? ज्ञान। ज्ञानकी उपेक्षा करना सबसे बड़ी हानि है। लाखोंका वैभव भी जुड़ जाये तो आखिर सबको छोड़कर जाना ही पड़ेगा। यह न होगा कि हमने करोड़ोंका धन कमाया तो मरने पर साथ में १० रुपये तो चले जायें। एक नया पैसा भी साथ न जायेगा। सो देखा ही होगा सब मरने वालोंका हाल। यह भी पता नहीं पड़ता कि लो यह मैं अब गया। तो इस परिग्रहसे, इन विभूतियोंसे कुछ पूरा नहीं पड़ता है।

कर्तव्यपालन व समागम—भैया! अपना पूरा पड़ेगा ज्ञानदृष्टिसे, आत्मरमणसे। यह सब प्राप्ति होती है समागमोंसे। विश्वासमें यह बात लाइए कि धनसे मिलना कुछ नहीं है। ज्ञानसे ही सब कुछ मिलता है। ज्ञान से बढ़कर इस धनका मूल्य मत समझो। इस धनसे आत्माको कुछ नहीं मिलता। जैसे कोयलेकी दलालीमें हाथ काले हुआ करते हैं ना? इसी प्रकार इन परवस्तुओंके विकल्पोंमें केवल कलुषता ही हाथ रहेगी इसी प्रकार इस गाथामें यह बताया गया है कि शुभोपयोग आश्रव आदि विपरीत कारण मिलें तो उनका फल भी विपरीत होता है। अब कारणकी विपरीतता क्या है और फलकी विपरीतता क्या है? किन विपरीत कारणोंसे कैसा विपरीत फल मिला करता है? इन दोनों बातोंको दिखाते हैं।

छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो।
ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि ॥२५६॥

विपरीत आश्रयका फल संसरण— अज्ञानी पुरुषोंके द्वारा व्यवस्थापित पात्ररूप पदार्थोंमें अर्थात् जिन्हें अज्ञानीजीवपात्र समझते हैं ऐसे कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु आदिकमें जो व्रत नियम अध्ययन दान करते हैं वे पुरुष अपुनर्भवको नहीं प्राप्त हो सकते अर्थात् निर्वाण नहीं पा सकते। केवल

सातात्मक भावोंको प्राप्त कर सकते हैं। जिन कामोंसे, जिस धार्मिक प्रवृत्ति से ज्ञानमय चैतन्य प्रभुका दर्शन करनेमें आनन्द मिलता है जैसे व्रत, तप, दान आदिक वृत्तियोंसे शुद्ध चैतन्य प्रभुके दर्शनमें सहायता मिलनी चाहिए। तो नहीं मिला करती है। जिनका चित्त भरम गया है उन सभोको ऐसा समझो कि उनमें धर्मविधि नहीं रही, रूढ़ि बन गई।

लक्ष्यानुसार कार्यसिद्धि— जैसे दिवालीका महत्त्व समझने वाले लोग कितने हैं? ये पुण्यपर्व है, हितकारी पर्व है पर खिलौने खेलना, शक्करके बने हाथी घोड़े खाना और भेंट मिलाई हो, पारवारिक सम्बन्ध बने। कितनी प्रकारकी बातोंमें फंस गये हैं, क्या उनके लिए दीवाली मनाना धर्मपर्व है? नहीं है। धर्मपर्व, धर्मकार्य, धर्मवृत्ति, धर्म क्रिया वही कहलाती है जिससे शुद्ध आत्मदेवकी स्मरणमें पात्रता रहे, शिक्षा मिले। कुछ लोग अवश्य ऐसे होते हैं जो दीवालीका महत्त्व समझते हैं। प्रभुवीर निर्वाण पधारे हैं, निर्वाणका यही स्वरूप है। जो प्रभु निर्वाण गए उनका यही स्वरूप है। सदाके लिए संकटोंसे दूर हो गए। इससे बढ़कर और आनन्दका दिन कौनसा होगा?

प्रभुकी शाश्वत स्वतन्त्रता— १५ अगस्तको आजादी मिली थी। उस का समारोह और २६ जनवरीको आजादीका निर्णय हुआ था, उसका समारोह होता है। आत्माकी आजादीका निर्णय होता है सम्यक्त्वमें और आत्मा सदा कालके लिए आजाद हो जाता है तो निर्वाणमें इन दोनों समारोहोंका कितना हमें आनन्द मनाना चाहिए? इस बातको शुद्ध लक्ष्य वाले ही समझ सकते हैं। वैसे आजादीका निर्णय औपशमिक सम्यक्त्वमें ही हो जाता है। जीवके सर्वप्रथम औपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें भी आजादीका निर्णय है। किन्तु वह ऐसी आजादी है, कमजोर निर्णय है कि निर्णयके बाद भी कुछ दिनके लिए स्थगित किया जा सकता है। पर क्षायिक सम्यक्त्वका निर्णय अटूट निर्णय है कि यह पुरुष अब आजाद ही हो चुका, और आजादीका होना होता है निर्वाणके समय। प्रभु वीरकी तरह मैं आजाद होऊँ ऐसी भावना और उत्साहमें अपूर्व आनन्द है। इस प्रकार यह जानें कि जिस धर्मक्रियाओंमें हमें शुद्ध आत्मदेवकी स्मृति होती है वे तो हैं हमारी धर्मक्रियायें और जिससे हम और भूलोंमें बढ़ते हैं, वे हैं हमारी लौकिक क्रियायें।

कारणकी विपरीततासे फलकी विपरीतता— सर्वज्ञ भगवान्के शासन द्वारा जो जीव पात्ररूपसे व्यवस्थापित होते हैं ऐसे देव, शास्त्र, गुरुके आराधनमें, उपासनामें जो उपयोग लग रहा है ऐसे शुभोपयोगका फल तो पुण्य-

संचयपूर्वक पुण्य फल भोगकर मोक्षकी प्राप्ति होना है। पर इस ही शुभोपयोगने यदि कारणकी विपरीतता प्राप्त करली तो उसका फल उल्टा ही होता है। ज्ञानी पुरुषने जिसको पात्र करार कर लिया है या अज्ञान मूढ़ों द्वारा जो मनगढ़न्त भेषमें दीक्षित किए जाते हैं ऐसे उन अपात्रोंमें यदि शुभोपयोग किया जाये, उनकी भक्ति, उनकी सेवा, उनका दान देना, शुभोपयोग किया जाये तो उसका फल मोक्षमार्गरहित केवल कुछ पुण्यकी प्राप्ति होती है अर्थात् पुण्यरूप विपत्तियां प्राप्त होती हैं। अज्ञानी जीवके बांधे हुए पुण्यकर्म भी विपत्तियां लानेके लिए होते हैं। उस अज्ञानसे कुछ पुण्य बंध हुआ, उस पुण्यबंधके फलमें कुछ वैभव मिला। उस वैभवमें अत्यन्त आसक्ति होती है और उस आसक्तिके फलमें उनको नरकादिक खोटी गतियोंमें जन्म लेना पड़ता है। संसारमें कैसा ही अच्छा मनुष्य होनेकी या देव होनेकी गति प्राप्त करलें, पर आनन्द तो एक शुद्ध भावनामें हुआ करता है। बाह्य वैभवसे आनन्द नहीं होना।

अब उस ही कारणकी विपरीतता और फलकी विपरीतताको बतलाते हैं।

अविदिदपरमत्थेसु य विसयकसायाधिगेसु पुरिसेसु।
जुट्ठं कदं व दत्तं फलदि कुदेवेसु मणुजेसु ॥२५७॥

जिन जीवोंने शुद्ध आत्मपदार्थको नहीं जाना है, ऐसे विषयकषायोंमें आसक्त रहने वाले पुरुषोंमें बहुत प्रीतिपूर्वक सेवा संगतिका व्यवहार होना या दान देना, इसका फल है खोटे देवोंमें, खोटे मनुष्योंमें उत्पत्ति होना।

कारणकी विपरीतताका फल— यहां कारणकी विपरीतता बतला रहे हैं। जैसे बीज खोटी भूमिमें बोते हैं तो कारण तो हुआ खोटी भूमि और कार्य हुआ बीजका बोना और फल मिला टोटेका पड़ना। इसी प्रकार यह विपरीत कारण तो है कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु और बीज शुभोपयोग है, भक्ति, दान, संगति। सो उन विपरीत वस्तुवोंमें सम्बन्ध रखना, सेवा करना इसके फलमें मिलेगा क्या? टोटा। खोटे देवोंमें अथवा नीच मनुष्योंमें उत्पत्ति हो जाना। यह है छद्मस्थ व्यवस्थापितका धर्म। छद्मस्थताको इस प्रकरणमें बारह गुणस्थान तकका अर्थ नहीं लगाना है किन्तु अज्ञानीजन, मिथ्यादृष्टि लोगोंने जिसे देव, शास्त्र, गुरु, करार कर रखा है वे हैं विपरीत कारण और विपरीत कारणका संग इस भक्तके लिए अनर्थ करने वाला है।

विपरीत पुरुष— कैसे है विपरीत पुरुष? शुद्ध आत्माके ज्ञानसे शून्य होनेके कारण शुद्ध आत्मवृत्तिको जिन्होंने प्राप्त नहीं कर पाया, इस

कारणसे वे परमार्थसे अनभिज्ञ हैं। विषय और कषायोंमें तेजीसे बह रहे हैं, ऐसे पुरुषोंमें जो शुभोपयोग करते हैं, भक्ति करते हैं, वैयावृत्य करते हैं, दान करते हैं उनको यदि कदाचित् मंद कषाय हो तो केवल पुण्यरूप विपत्ति ही पल्ले पड़ती है और उसके फलमें उन्हें खोटे देव और खोटे मनुष्योंमें उत्पन्न होना पड़ता है। यदि मंद कषाय न हो तो नरकादिक पापफलके पात्र होते हैं। इस कारण जो विषय कषायोंके आधीन हों, जिन्हें निज परमात्म स्वरूपका पता न हो ऐसे पुरुषोंकी संगति हेय है। उससे लाभके बदले हानि ही विशेष है।

वास्तविक शुभोपयोग— भैया! शुभोपयोग तो परमार्थसे वही है जिस उपयोगमें अनादि अनन्त अहेतुक, असाधारण चैतन्य स्वभावमें दृष्टि दी है और ऐसा ही जिसका कुछ-कुछ परिणमन हुआ है या जो नाना प्रकार के परिणमनमें अनुभवमें लगा हुआ भी शुद्धोपयोग सम्बन्धी देव और गुरु की सेवा संगति करनेके पथको छोड़कर कुपथमें नहीं लग सकता, ऐसा ही शुभोपयोग प्रशंसनीय है। इस शुभोपयोगके प्रसादसे जब तक संसार शेष है तब तक विशिष्ट पुण्यका फल प्राप्त होता है और उस पुण्य फलको भोग कर निर्वाणको प्राप्त होता है।

मुक्तजीवोंकी निकट पहिली संसारमें परिस्थिति— जो भी मनुष्य मुक्त हुए हैं उनकी पहिली अवस्था पुण्यवान् और पुण्यात्माकी थी। दीन भिखारी पुरुष निर्वाणको कभी नहीं पहुंचे। भला जिसे वर्ष ६ महीनेके लिए परदेश भेजते हैं उसका कितना सम्मान सत्कार आडम्बर किया करते हैं? वह कितने सत्कारके साथ जाता है और जो जीव सदाके लिए इस अपने संसारके घरसे विदा हो रहा है अर्थात् निर्वाणको प्राप्त हो रहा है, क्या ऐसे पुरुषकी विदाई दीनता और दरिद्रताके साथ की जायेगी? बड़े पुण्य ठाठ भोगकर वह संसारसे विदा होता है। भले ही वह परदेश जाने वाला व्यक्ति रास्तेमें किन्हीं गुन्डोंसे पाला पड़ने पर उसपर कुछ उपद्रव आ जायें पर गया तो वह सत्कारके ही साथ था और पहुंच गया उन्नति साधनमें। इसी प्रकार भले ही यह महापुरुष संत हम लोगोंसे विदा होनेके बाद किन्हीं गुन्डे मनुष्यों के द्वारा या किसी व्याधिके द्वारा उपद्रवित रास्तेमें हो जाये किन्तु जब वह घरसे चला, दीक्षित हुआ तो बड़े वैभवके साथ चला था और आनन्दसे परमसुखके साधनमें पहुंच गया।

वास्तविक शुभोपयोग व लोकमूढ़ताका फल— वास्तविक शुभोपयोग का फल अन्तमें मोक्ष ही है किन्तु जब तक संसार अवस्था है तब तक पुण्य फल भोगना है। सो ज्ञान होनेके कारण पुण्यफलको भी उपेक्षा भावसे भोगता

है। जो जन कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुमें प्रीति करते हैं और उसका ही विश्वास कर प्रचार करते हैं, सेवा करते हैं, उन पुरुषोंको केवल थोड़े पुण्यकी प्राप्ति हो जायेगी, पर मोक्षकी प्राप्ति न होगी। इस तरह कारण विपरीत मिलें तो फल विपरीत होता है।

अब आगे यह बतलाते हैं कि विपरीत कारणसे फल सीधा कभी सिद्ध नहीं होता है, विपरीत कारणसे विपरीत फल ही उपजता है।

जदि ते विसयकसाय पापत्ति परूविदा व सत्थेसु।
कह ते तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारया होंति ॥२५८॥

पापसेवा क्लेशकारिणी— ये विषय कषाय शास्त्रोंमें पापरूपी ही बताये गए हैं। फिर जो पुरुष सर्वविषयकषायोंमें प्रवृत्त हैं, फंसे हैं वे पुरुष संसारके तारने वाले कैसे हो सकते हैं? न वे खुद तिर सकते हैं और न दाताजनोंको तिरानेके निमित्त हो सकते हैं। आहारादिक दान देने वाले या सेवा शुश्रूषा करने वाले पुरुषोंको तारनेमें वे समर्थ नहीं हैं। विषय और कषाय तो पाप ही हैं।

कामद्वयके विषयोंकी अहितकारिता— भैया! बताओ, कौनसा विषय हितकर है? स्पर्शन इन्द्रियके वश होकर हाथी जैसा बलवान् पुरुष भी बंधनमें बंध जाता है। मछली जैसी तीव्रगति वाले असमानजातीय द्रव्यपर्याय जिसमें इतनी शक्ति है कि पानीका कैसा ही बहाव हो, वह चाहे तो ऊपर की ओर चल सकती है। तेज बहावमें जिस ओरसे बहाव आ रहा है उस ओर मनुष्यमें शक्ति नहीं है कि चल सके पर मछली वेगसे ऊपरकी ओर पानीमें चढ़ जाती है। इतनी कला वाली मछली भी जिसे कामदेवकी ध्वजा बतलाया है, ऐसी सुन्दर मछली भी रसना इन्द्रियके विषयके वश होकर तुच्छ नीच धीवरके जालमें फंस जाती है और अपने प्राण गंवा देती है।

विषयोंकी अनर्थकारिता— कौनसा विषय इस जीवको हितकर है? एक भंवरा संध्याके समय फूले हुए कमल पर बैठ गया, रात्रिको वह कमल बन्द हो गया। जिस भ्रमरमें इतनी शक्ति है कि काठको भी चीरकर निकल जाये। देखा होगा पुराने लोग बड़ी मोटी कड़ियां लगाया करते थे। उनमें भंवरा एक ओरसे छेदकर दूसरी ओर छेद करके निकल जाता है। क्या उसे कमलके पत्तोंको छेदकर निकल जाना कुछ कठिन बात है? नहीं। लेकिन घ्राणेन्द्रियके वश होकर वह उन कमलके पत्तोंको वेध नहीं पाता। कुछ घबड़ाता तो जरूर है। मानों सोचता है कि प्रातःकाल होगा, सूर्यका उदय होगा, कमल खिलेंगे और आनन्दसे यहांसे उड़ जायेंगे, किन्तु होता क्या है? या तो वह श्वासकी रुकावट होनेसे वहीं मर जाता है या कोई

हाथी उस तालावमें घुसा और उस कमलको तोड़कर खा गया। किसी भी तरह हो यह भंवरा घ्राणेन्द्रियके वश होकर अपने प्राण गंवा देता है। क्या चक्षुरिन्द्रियका विषय निरापद होगा। लिहाजा सम्पूर्ण चिंताएँ मोह प्रीति इन सबके बढ़नेका कारण तो आंखोंसे देखना है। यह तो आंखोंका देखना बड़ी-बड़ी विपत्तियोंका कारण है। क्या कानोंसे सुनना यह विषय विश्राम लेने देगा ? कुछ भी सुनते ही बेचैनी हो जाती है। अच्छा सुना तो बेचैनी। बुरा सुना तो बेचैनी। किसी का अच्छा सुरीला गाना सुना तो बेचैनी मिलती है या आराम मिलता है ? बेचैनी मिलती है।

निश्चयसे शब्दश्रवण भी शान्तिबाधक— अन्तरमें सोच कर बतावो शास्त्रीय ढंगसे गाना सुना तो वहां भी बेचैनीसे प्रेरित होकर वाह-वाह कह उठते हैं कि नहीं ? कह उठते हैं। वह मीठी बेचैनी है, सो उस पर दृष्टि नहीं जाती है और किसीका बेसुरा राग सुना तो बैठने को जी नहीं चाहता। मानों कोई अन्तरमें कुछ आघात कर रहा हो। निन्दाकी बात सुनी तो वहां भी बेचैनी, प्रशंसाकी बात सुनी तो वहां भी बेचैनी और कदाचित वैराग्य भरा उपदेश सुन लिया तो वहां भी बेचैनी। हाय कैसे कर्मोंसे छूटें ? कैसे संसारसे पार होंगे ? चाहे वह भला ही हो पर समझ लेने पर हम बेचैन ही हुए ना ? तो कानसे सुननेका भी कौनसा ऐसा विषय है जो आत्माको आरामकी स्थितिमें रहने दे ?

मनके विषयकी अहितकारिता— एक मनका विषय जरा देखो। बड़ी दयनीय दशा हो रही है। घरमें हजारों लाखोंका धन है पर सुखसे नहीं खा सकते, सुखसे नहीं रह सकते और धर्मके लिए अपना समय नहीं निकाल सकते। क्योंकि मनका विषय बढ़ रहा है। अब १० लाख की स्थिति होना चाहिए। अमुक तो करोड़पति है। हम तो कुछ भी नहीं हैं। और जब मृत्यु हो जायेगी तब तो नाम निशान भी न रहेगा। मनकी उड़ानें बढ़ रही हैं। जिसे जो समागम प्राप्त है उसमें भी आराम नहीं ले सकता। मनका विषय तो इन सब विषयोंसे भी भयंकर मालूम होता है।

पापरूप तत्त्वोंसे असिद्धि— भैया ! यह सब विषय और किन्हींके पोषनेका कारणभूत कषाय अथवा इस ही विषयके परिणामसे होने वाला कषाय ये सब पाप ही हैं। "आतमके हित विषयकषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय" ये विषय-कषाय पाप ही हैं और विषयकषाय वाले पुरुष भी पाप ही हैं और उन विषय-कषाय वाले पुरुषोंमें अनुरागी पुरुष भी पापके अनुरागी हैं। इसलिए वे पुरुष भी पापरूप है। देखिए विपरीत जमावका नक्शा, वे महंत जन भी पापरूप है और उनका परिणाम पापरूप है, उनके

भक्त भी पापरूप हैं, उनकी भक्तिका परिणाम पापरूप है। जहां पाप पापका ही जमघट चल रहा हो ऐसी गोष्ठीमें ऐसी विषय-कषाय वाले महंत जन अपने भक्तको क्या पुण्यका अनुरागी बना सकते हैं? नहीं। अरे वे तो पुण्य तकके भी कारण नहीं बन पाते हैं। तो संसारके तारनेकी बात तो कैसे कही जाय, इस कारण ऐसे विपरीत कषायोंमें प्रतिबद्ध पुरुषोंसे अविपरीत फल सिद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार यहां तक विपरीत कारणकी और विपरीत फलकी चर्चाकी गई है। अब अविपरीत कारण कौन है और वह अविपरीत फल क्या है? ऐसे सीधे कारण और सीधे फलके विषय में अब कुन्दकुन्ददेव कहते हैं।

अविरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु।
गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स ॥२५६॥

मोक्षके अविपरीत साधन तत्त्व— जो पुरुष अर्थात् परममुनि रत्नत्रयकी एकतारूप या आत्मस्वरूपकी एकाग्रतारूप सन्मार्गका, मोक्षमार्गका सेवने वाला होता है, जो विषय-कषायरूप पापपरिणामसे रहित होता है, जो पुरुष धार्मिकोंमें, धर्ममें, वस्तुवोंमें समतापरिणाम रखता है, जो पुरुष ज्ञानादिक अनेक गुणोंके समूहका सेवने वाला है, आराधना करने वाला है ऐसा पुरुष अविपरीत कारण है। इसकी सेवा, इसकी संगति इसके लिए किए गए दान ये सब अविपरीत फलको सिद्ध करते हैं।

माध्यस्थ्यका विशाल आशय— ये महाश्रमण पापोंसे रहित हो गए हैं इस कारण सर्वधर्मोंमें माध्यस्थ्य परिणाम रखते हैं। सब लोगोंमें, सर्वधर्मयुक्त वस्तुवोंमें मध्यस्थताके परिणाम रखते हैं। उन्हें विवाद पसंद नहीं है। रागद्वेषरहित होकर आत्महित ही पसंद है और इसी कारण वे गुणसमूहका उपसेवी बन गये। उनकी दृष्टिमें गुण ही आते हैं। गुणोंपर ही उनका अनुराग है। सो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्रकी जो एकता है इस ही परिणतिको मोक्षमार्ग कहते हैं। उस मोक्षमार्ग पर जो चल रहे हैं अथवा सर्व परपदार्थोंसे, परभावोंसे निवृत्त होनेके फलमें जो आत्मस्वभावकी दृष्टि जगती है उस एकाग्रतारूप मोक्षमार्गका जो सेवी है, ऐसा श्रमण परके मोक्षभावके या पुण्यभावके होनेका निमित्त कारण बनता है। इसलिए ऐसे महाश्रमणोंसे सीधाफल प्राप्त होता है।

अविपरीत फलका निर्देशन— सीधा फल क्या है कि जब तक संसार शेष हो तब तक अच्छे देव और अच्छे मनुष्य बनते रहें और यथाशीघ्र कर्मोंसे शरीरसे विभावोंसे छुटकारा पाकर अनन्तज्ञान अनन्त आनन्दके विकासरूप बन जाना यही तो सीधा फल है। यह सीधा फल मिलता

है सुपात्रोंका आश्रय करके, शुभोपयोगका परिणाम बनाने से। अब ऐसे ही संत पुरुष जो कि सीधे फलके कारण बनते हैं और जिनकी सेवा बड़े उत्कृष्ट फलको प्रदान करती है, उन संतोंका स्वरूप कहते हैं, उस अविरत कारण का स्वरूप बताते हैं।

असुहोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता या।
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो ॥२६०॥

शुद्धतत्त्वके आराधक श्रमणोंकी सेवाका फल— जो शुभोपयोगसे तो रहते हैं और रागद्वेष मोहभावोंसे दूर रहकर शुद्धतत्त्वके उपयोगी रहा करते हैं और कदाचित् शुद्ध उपयोगी न रहनेकी स्थितिमें शुभोपयोगी रहा करते हैं, ऐसे ये मुनिगण भव्य जीवोंको संसारसे तारते हैं। उन दोनों प्रकार के श्रमणोंके उपासक भक्त पुरुष उत्तम स्थानको प्राप्त करते हैं। हमें किनकी भक्ति, किनकी सेवा, किनकी आराधना करनी चाहिए? इस बातका इस गाथामें दिग्दर्शन कराया है।

द्विविध श्रमण— जो शुभोपयोगसे रहते तो हैं, किन्तु बाहरी विषयों से जिनको प्रीति नहीं है, कषायोंको भी जो नहीं पकड़ा करते हैं और जिन का लक्ष्य केवल शुद्धतत्त्वका उपयोग रहता है। शुद्ध तत्त्वका उपयोग रह सके तो उनकी प्रगति होना कार्य है ही, पर कदाचित् इस ज्ञानस्वभावमात्र शुद्ध आत्मतत्त्वका उपयोग न बन सका तो भी इस शुद्ध तत्त्वका संस्कार, प्रत्यय नहीं छोड़ता है और उसको लक्ष्यमें रखते हुए वह शुभोपयोगमें भी आता है। ये दोनों श्रमण ही हैं- (१) शुद्धोपयोग प्रधानी, (२) शुभोपयोग प्रधानी।

श्रमण सेवा— इस शुभोयोगमें ये श्रमणजन क्या करते हैं? इसका वर्णन दो दिन पूर्व कुछ गाथावोंमें आया था। हम किस तरह मुनिजनोंसे बोलें? किस तरह उनकी सेवा करें? और कदाचित् रोगी, क्षीणकाय, तपस्वी साधु हैं तो उनकी वैयावृत्त्य किस तरहसे करें? उन साधुवोंकी सेवाके लिये असंयमी जनोंसे बातें भी करनी पड़ें तो किस तरहसे करें? ये सब बातें पीछे निकल गई हैं। ऐसे शुभोपयोगमें भी वे श्रमण जन रहते हैं। सो ये शुद्धोपयोग प्रधानी और शुभोपयोग प्रधानी दोनों प्रकारके श्रमण जन भक्तोंको संसारसे तारनेमें समर्थ है अर्थात् भक्त जीव ऐसे श्रमणोंका, साधुवोंका संग पाकर, उपदेश पाकर उनकी वैयावृत्ति करके अपना निर्मल परिणाम बनाते हैं और उस निर्मल परिणामके फलमें वे पुण्योपचयपूर्वक निर्वाणके मार्गको प्राप्त करते हैं।

शुद्धलक्ष्मी साधुवोंकी तारगतरणता— जो मुनिराज मोह द्वेष और

अप्रशस्त रागका उच्छेद होनेसे अशुभोपयोगसे तो बिल्कुल दूर हो गये हैं और सर्व प्रकारके कषायोंकी उत्पत्तिका विच्छेद होनेसे कभी शुद्धोपयोग भी होता है किन्तु कभी-कभी शुभरागका उदय होनेसे शुभोपयोगी भी होता है। ऐसे ही मुनिराज चूँकि वे स्वयं मोक्षके आयतन हैं सो दूसरे भव्य जीवोंको भी तारते हैं किन्तु जो स्वयं पापोंसे उपरक्त हैं याने विषय कषायोंमें बंधे हुए हैं ऐसे जन चूँकि खुद भी तरनेमें समर्थ नहीं हैं तो वे दूसरोंको तारने के निमित्त क्या होंगे ?

तरण और तारण— वही नाव पुरुषको तार सकती है जो नाव खुद तिरती है। पत्थरकी नाव खुद नहीं तिर सकती है तो डूब जाने वाली नाव किसी पुरुषको तारेगी कैसे ? अथवा कोई किसीको तारना नहीं है किन्तु शुद्ध भाव प्रवृत्त स्वयं तिरने वाले आत्मा ही साधुजनोंकी विशेषताको निरखकर आत्महितार्थी स्वयं रत्नत्रयकी आराधनामें भक्तिमें रत होकर स्वयं तिर जाया करते हैं। कोई किसीको तारने वाला नहीं है। ऐसा शुद्धोपयोगी और कभी-कभी शुभोपयोगमें आने वाले गुरुराज स्वयं मोक्षके आयतन होनेसे दूसरे जीवोंको भी संसारसे तारते हैं और गुरुराजमें जिनकी भक्ति है, भाव है ऐसे पुरुषोंके लिए वे प्रशस्त भावोंके भी कारण बनते हैं।

कुदेवपनाकी मानने वाले भक्तकी कल्पना पर निर्भरता— जो अज्ञान से अपने ही मनसे कल्पना करके देवशास्त्र गुरुको मान लेते हैं, जिस किसी को भी योग्य जाने, ऐसे लोग भी यदि स्वार्थका आशय मनमें नहीं रखते हैं, विषयकषायोंके पोषणको अपने अभिप्रायमें नहीं लेते हैं तो वे केवल पुण्यके पात्र होते हैं और जो विषयकषायोंकी भावना होती हो, तो वे पूजनके प्रसंग में भी सच्चे देवशास्त्र और गुरुके सामने भी भक्ति कर रहे हों तो वे पुण्य के पात्र नहीं हैं। फिर खोटे देव, शास्त्र, गुरुके समक्ष तो पुण्यका पात्र क्या होगा ? जिसने देवके स्वरूपको निरखा नहीं किन्तु विषयकषायोंके पोषनेके लिए मेरे लड़का हो जाये, मेरा धन बढ़ जाये, किसी भी वाञ्छाके लिए तीर्थंकरको भी पूजते, तीर्थंकरकी मूर्तिके समक्ष आराधना करते तो उनकी निगाहमें देव नहीं रहा। उनकी वृत्तिमें तो कुदेव बना हुआ है।

माननेवाले भक्तकी कलापर देवत्वकी निर्भरता— मूर्ति है जिनेन्द्र देवकी, पर यह मूर्ति, मूर्तिकी ओरसे वा जिनेन्द्रदेवकी ओरसे नहीं है। यह तो भक्तकी ओरसे जिनेन्द्रदेवकी मूर्ति है। मूर्तिकी ओरसे जिनेन्द्रदेव हैं ऐसा नहीं है, उसकी ओरसे तो एक पाषाणकी कला है, एक सुन्दर मुद्रा है, पर वह मूर्ति है, भगवान् है तो वह भक्तकी ओरसे है। यदि कोई भक्त ऐसी जिनमूर्तिके समक्ष भी यह मुझे लड़का देने वाला है, यह मुझे धन

देने वाला है ऐसा यदि सोचता है तो उसके लिए तो वह कुदेव है, देव भी नहीं है। फिर उसने देवपूजा कहां की ? उसने तो कुदेवकी पूजा की। उसका मिथ्यात्व नहीं छूटा और जिनकी दृष्टिमें जिनगुण बसे हुए हैं और अरहंतदेवके उस शुद्ध विकासकी भक्तिसे जो ओतप्रोत हो गया है उसकी दृष्टिमें तो मूर्ति भी नहीं, साक्षात् जिनेन्द्र है।

साक्षात् जिनेन्द्र व जिनबिम्बकी समताका एक हेतु— साक्षात अरहंतदेवके समवशरणमें कोई देखे तो वहां उसे २ चीजें मिलती हैं। एक तो उनके वीतराग मुद्राके दर्शन और दूसरे दिव्य ध्वनिका श्रवण। दोके अतिरिक्त कोई तीसरी चीज भी समवशरणमें दिखनेमें आती है क्या ? नहीं। उस भक्त पुरुपको उनकी मुद्राका दर्शन और दिव्यध्वनिका श्रवण ये दो ही बातें तो वहां मिलती हैं। मूर्तिमें एक चीज तो मिल जाती है और एक चीज नहीं मिलती है। मुद्राका दर्शन तो मिल जाता है पर ध्वनिका श्रवण नहीं मिलता है। तो एक दिव्य ध्वनिका श्रवण न मिलेगा। इसके अलावा जितनी बातें भक्तको समवशरणमें मिल सकती हैं, उतनी बातें जिनबिम्बके समक्ष भी मिल सकती हैं। पर लेने वाला चाहिए और यदि लेने वाला नहीं है तो समवशरणमें जा करके भी उसे कुछ नहीं मिल सकता।

गुरुदेव देवके प्रतिनिधि— ये साधुजन पूर्ण वीतराग अरहंत भगवान्के एक छोटे प्रतिनिधि हैं। उसी पूर्ण वीतरागमें जाने वाला है। तब कैसा साधु पुरुष हो जो हमें संसारसे तारनेका निमित्तभूत हो सकता है। वे ये ही हैं जो शुभोपयोगसे तो सर्वरहित हैं। किसी भी क्षण अशुभोपयोग नहीं होता और कदाचित् शुभोपयोगमें भी चलते हों, ऐसे साधु पुरुष भक्त जीवोंके तारनेमें कारण होते हैं।

कारण और फलका उपसंहाररूप कथन— यह प्रकरण चल रहा है कि यदि विपरीत कारण मिले तो विपरीत फल होता है और अविपरीत कारण मिले तो अविपरीतफल मिलता है। यदि कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुका प्रसंग मिले तो उसके आश्रयसे फल उल्टा ही होता है। मोक्षकी तो सिद्धि होती ही नहीं है। पर सातिशय पुण्यकी भी सिद्धि नहीं होती है और साधारणतया तो पशुपक्षियोंको भी, भूखे, दुःखी मनुष्योंको भी करुणादान, भोजनदान आदि सेवासे भी साधारण पुण्यकी सिद्धि हो जाती है। ऐसा ही यदि मंद कषाय है तो कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुकी भक्तिके प्रसंगमें भी पुण्य बंध हो जाता है पर सातिशय पुण्य और मोक्षकी सिद्धि देव, शास्त्र, गुरुके अनुरागके प्रसंगके आश्रयमें ही सम्भव है।

अब उत्तम फलके कारण जो उत्तमपात्र हैं उनकी सेवा उपासनाकी प्रवृत्तिको सामान्य और विशेप करके दो सूत्रोंमें बताते हैं।

दिट्ठा पगदं वत्थू अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं।
वट्टदु तदो गुणादो विसेसिदव्वोत्ति उवदेसो ॥२६१॥
अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं।
अंजलिकरणं पणमं भणिदं इह गुणाधिगाणं ॥२६२॥

विपरीत कारणके आश्रयसे मात्र पुण्यबन्धकी सम्भावना— उत्तमपात्रोंकी साधुजनोंकी हमें किस प्रकारसे उपासना करना चाहिए ? इसको यहां बताते हैं। इससे पहिले यह प्रश्न आया है कि कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु के प्रसंगमें उनके आश्रयसे मंद कपाय रहते हों तो पुण्यबंध होता है। इस का क्या मतलब है ? चूँकि उनके सम्यक्त्व नहीं है,सो इस कारण घातिया कर्मोंका तो बंध चलता ही है। उसमें यह हिसाब नहीं देखना है कि यह पापबंध रुक जाता है क्या ? पर यह पुरुष इतना बड़ा है, मार्गदर्शक है इत्यादि भावोंको लेकर कपायमंद है। क्रोध न करें, घमंड न करें, मायाचार और लोभ न करें, ऐसे भक्त देखे जाते हैं और ऐसे कुगुरु भी देखे जाते हैं। जो अपनी शक्ति माफिक अपने दिलकी इमानदारी से तप करता है और मंदकपाय करता है ऐसा जीव १२वें स्वर्ग तक उत्पन्न हो जाता है। ऐसा जीव पुण्यबंध भी यथासम्भव कर लेता है। तो विपरीत कारणमें यदि लगें तो कुछ पुण्य हाथ तो आ जायेगा, पर न सातिशय पुण्य आयेगा और न मोक्षका मार्ग मिलेगा।

गुणाधिक संतोंके प्रति संतोंकी विनयप्रवृत्तियां-- अब यह बतला रहे हैं कि गुणोंसे अधिक साधुजन आते हों तो हम उनकी किस प्रकारसे प्रकारसे उपासना करें ? जब हम आभ्यंतरमें निरूपराग शुद्ध आत्माकी भावनाका बोध कराने वाले बहिरङ्ग निग्रन्थ निर्विकाररूप मुद्राको देखें तो पहिले उठकर खड़े हो जाना और विनयसाधक अन्य क्रियायें जिनका दर्शन इस दूसरी गाथामें आयेगा ऐसे विनयभावसे उनका हृदयसे सम्मान करना, अपने आपमें गुणोंकी विशेपताका धारण कर लेना, सो गुरुवोंकी उपासना है।

सम्मानकर्त्ताकी निर्मलता— गुणाधिक पुरुषोंका सम्मान करके अपने आपमें गुणोंका अतिशय प्रकट करना, सो वास्तवमें तो आपका सम्मान है। अपना सम्मान वास्तविक कर सकें तो बड़ोंका सम्मान हो सकता है अर्थात् उन बड़ोंके गुणोंको देखकर अपने गुणोंमें भी अतिशय ला देना, विशेपता ला देना, सो वास्तवमें बड़ेका सम्मान है और बड़े पुरुष

के सम्मानमें यदि अपना ऊँचा परिणाम होता है, तब ही हो सकता है। यदि सम्मान करने वाला खुद निम्न परिणामोंसे रहे और सम्मान करे तो वास्तवमें वह बड़ोंका सम्मान न होगा। सभी तो देखो भक्तजन गुरु सम्मान करते हुएमें गद्‌गद् हो जाते हैं, उनके स्वरूपकी महिमा जानकर आनन्दके अश्रु झलकने लगते हैं।

दृष्टि और वृत्तिकी मैत्री— यह सब शुभोपयोगका प्रकरण चल रहा है प्रवचनसार ग्रन्थमें, उसमें यह कह रहे हैं कि भगवंतकी ऐसी आज्ञा है कि शुद्ध आत्मतत्त्वकी अभीक्ष्ण दृष्टि रखना और जो ज्ञानादिक गुणों से अधिक हों उनका आदर विनय करना। धर्मात्माजनोंका योग्य उत्सर्ग और अपवादकी मैत्री जैसी वृत्ति स्पष्ट जाहिर हो रही है। अभी इन प्रकरणोंके पहिले जब शुद्धोपयोगका वर्णन था तब शुभोपयोगको हेय बताया, निन्द्य बताया, बाधा करने वाला बताया और शुद्धोपयोगके लिए ही एक प्रेरणा दी गई, पर प्रैक्टिकल जीवनका बनाना वास्तवमें मार्गपर चलना कहलाता है। तो शुद्धोपयोगकी प्रेरणा दी जाने पर भी और शुद्धोपयोगकी प्राप्तिके लिए अत्यन्त उत्सुक और प्रयत्नशील होने पर भी वह रह नहीं सकता। तब ऐसी स्थितिमें उसे अपनी व्यवहारिक कला लानी ही पड़ेगी। तब क्या करें इस स्थितिका यह वर्णन चल रहा है।

श्रावक सेवामें प्रवृत्तिकी अन्तिम सीमा— यह शुभोपयोगका वर्णन है। इस शुभोपयोगमें क्या-क्या बातें साधुवोंपर गुजर जाती हैं और फिर भी साधु पदभ्रष्ट नहीं कहलाता है। गुरुवोंकी उपासना करनेके प्रयो-जनसे नाचाकर असंयमीजनोंसे भी वार्ता कर सकता है। फिर भी वह पदभ्रष्ट नहीं कहलाता है। किन्तु प्रयोजन हो एक धर्मसेवाका, गुरुसेवा का और उसमें भी स्वच्छन्दता रंच न हो, किन्तु असंयमीजनोंके प्रति कमसे कम वार्तालापमें यह श्रमणसेवाका प्रयोजन निकाल सकें, इतना ही वार्तालाप करो, इससे अधिक करने पर यह प्रवृत्ति प्रतिषिद्ध बताई है।

आदरमें विनयक्रम— जो पुरुष गुणोंसे विशेषित हो ऐसे संत-श्रमणजनोंको देखकर आये हुए पुरुषोंके प्रति योग्य आचारमें यह बताया गया है कि खड़े होना, पश्चात् और भी अनेक क्रियाओंसे उनकी विशेषता करनी चाहिए, सम्मान करना चाहिए। वे और विशेषताएँ क्या-क्या हैं? पहिली विशेषता है उठकर खड़े होना, फिर इसके बाद कुछ दूर सामने उनके आगे जाकर उनको ग्रहण करना याने उनको साथ ले आना। फिर तीसरे उनकी उपासना करना। विनयपूर्वक बोलना, स्तुति करना, और फिर [illegible] करना, [illegible] हों तो सेवा करना और जिस

तरहसे भी उनकी सेवा हो सकती है। पोषण करना और सत्कार करना, अंजलि करना, प्रणाम करना आदिक बातें कर्तव्य हैं अप्रतिषिद्ध नहीं हैं। ये सब बातें शुभोपयोगमें ही हैं। अपनी रही सही शानको भी धूलमें मिलानेकी बात कही जा रही है अर्थात् गर्वरहित होना चाहिये।

उत्कर्ष व अपकर्षका व्यावहारिक उपाय— यह संसारी पुरुष अपनी शान बढ़ानेके लिए क्या-क्या उपाय करता है, पर किसीकी शान कभी रह सकी है क्या ? और रह भी जाये तो कितने दिनको और किन लोगों में ? जो खुद मोही हैं, पापी हैं। यह भी पापी है शान चाहने वाला मलिन है, जन्म मरणके चक्रमें पिल रहा है, मोहीका कोई नाथ नहीं है, अशरण है, खुद अंधेरेमें हैं, ऐसी मलिन, मोही जनोंमें शान चाही जा रही है। इसके लिए यह दुर्लभ नरजीवन इसमें किया जाने वाला नाटक है। अपने से बड़ोंको देखकर अपनी शानको एकदम अलग कर देना और खुद उनके चरणोंके किंकर ही हैं, इस प्रकारकी निम्न वृत्तिसे बंध जाना यह तो है उत्थानका उपाय और कैसा भी बड़ा हो, श्रमण हो उसको देखकर विनय-वृत्ति न आना, अपनी पर्यायबुद्धिमें फर्क न करना, अपने आपको उच्च समझना ये सब परिणतियां हैं। इसकी जन्ममरणकी परम्पराको बढ़ानेका कारण है।

विरुद्ध प्रसंग निर्मलताका परीक्षक— भैया ! बाहरमें जब कभी अपमानका प्रसंग आया, जब कभी किसीसे उपद्रव आनेका प्रसंग आया उस समय अपनेको अपन धन्य समझें। भली-भली बातें सुननेमें तो सभी लोग प्रसन्न रहते, मंद कषायी रहते विनयशील रहते, शांत रहते, किन्तु व स्तवमें वे शांत हैं क्या ? इसकी परीक्षा तभी होती है जब विरुद्ध प्रसंग सामने आए।

सामायिकका प्रसंग संस्कारका परीक्षक— जैसे कि लोग कहते हैं कि जाप करते हैं, सामायिक करते हैं तब दिल दसों जगह जाता है और सामायिक न करते हों, घरके कामोंमें लगे हों तो चित्त स्थिर रहता है। तो उससे भला तो घरके कामोंमें लगना है। कम से कम दसों जगह चित्त तो न जाने पाए। अरे वह सामायिक काल धन्यकाल है, जो यह बताने के लिए आया है कि जब भी हम बेहोश थे, घरके कामोंमें मस्त थे तब इतने संस्कारोंका पाप लग रहा था। जितने संस्कार जाप देने के समयमें उखड़ गए वह सामायिक काल एक निरीक्षक बनकर आया है, वह सामा-यक काल उसका निर्देशक बनकर आया है, उसका गाइड बनकर आया आया है। जब हम घरके कामोंमें फंसे थे, उस समय केवल घरके कामोंका

ध्यान था, किन्तु संस्कार व बंध इतना चल रहा था।

स्वप्न भी निर्मलताका निर्देशक— दूसरे नम्बरका निर्देशक है स्वप्न स्वप्नमें मायाचार नहीं चलता है। जगतमें मायाचार चलने लगे पर स्वप्न तो वैसा ही आयेगा जैसी कि योग्यता है, जैसी कि वासना है। स्वप्नमें यदि खोटा चित्रण आता है, किसीके मारने, पीटने, चोरी करनेका स्वप्न आये, किसीको धोखा देनेका स्वप्न आये तो हम वैसी ही वासना को लिए हुए हैं। जितने भी स्वप्न जिस जातिके आते हैं वे वैसी ही वासनासे सम्बन्ध रखते हैं। चाहे कोई ऐसा स्वप्न देखे कि जिससे कोई वास्ता न था लेकिन जाति से सब अंदाजा लगालें, अगर मोहका स्वप्न देखा तो समझो कि वह हमारी मोहवासनाको जता रहा है।

कथावोंके मर्मकी परिचेयनाका दृष्टान्त— जैसे कि अपने पुराणोंमें जो कथायें लिखी हैं और आचार्योंने उन कथावोंको बताया है तो क्या हूबहू उन कथावोंकी बोलचालको ग्रन्थ रचयितावों ने सुना था? नहीं। क्या ग्रन्थकार महाराजने उन्हें देखा था? नहीं। जैसे हनुमान ने रामको क्या कहा? यह तो नहीं देखा सुना। रामचन्द्रजी हनुमान जी से ऐसा बोले, यह निश्चित नहीं है, पर उन वर्णनोंसे से प्रयोजन यह है कि ऐसे भाव वाले शब्द रामने हनुमानसे कहे। यही शब्द कहे यह बात नहीं है, पर इस भाव वाले शब्द कहे थे। इसी प्रकार स्वप्नमें भी जो अटपट स्वप्न था, जिससे कोई वास्ता न था, ऐसा देखा तो उसका अर्थ यह मानना चाहिए कि जैसे भावमें रहकर ऐसी बात देखी जा सकती है वह वासना इस स्वप्नद्रष्टाके अन्दर मौजूद है, मलिनता व निर्मलताकी वह सूचना है।

विरुद्ध प्रसंगकी परीक्षकता— तो हमारेमें भली-भली जब स्थिति सामने रहती है तो हम बड़े साफ स्वच्छ विनयशील रहा करते है। किसी पुरुष ने जैसे मंदिर बनवाया या कोई काम किया, और कोई पुरुष सभामें उस पुरुष की प्रशंसा करे तो वह पुरुष दसों बार कहेगा, भैया मैंने कुछ नहीं किया, सब भाइयोंका प्रसाद है, सबकी बदौलत हो गया है और यदि कोई प्रशंसा न करे तो चित्तमें यह लग रहा है कि देखो मैंने यह काम किया और कहने वाला कोई नहीं है। प्रशंसाके प्रसंगमें इन बाहरी बातोंसे हम किसीके या अपने भावोंका सही अंदाजा लगा सकते हैं क्या? हमारे भावों का सही अंदाज लगेगा विरुद्ध प्रसंगमें।

विरुद्ध प्रसंगकी परीक्षकताका एक उदाहरण— गुरु जी ने एक बार बाई जी से कहा कि देखो बाई जी हम कितना शांत रहते हैं? तो बाइ जी बोली कि भैया ठीक है। तुम मांगते हो छाछ और हम देती हैं

दूध तो तुम्हें शांति तो बनी बनायी है और तुम मांगो दूध और हम दें छाछ तो फिर देखें कैसे तुम शांत रहते हो ? बाई जी ने एक दिन ऐसी परीक्षा भी की। गुरुजी को खीर खाने की इच्छा हुई, सो कहा बाई जी आज खीर बनावो। अच्छा भैया, एक बर्तनमें खीर बनाई और एकमें छाछमें चावल डालकर जो पकाये जाते हैं ना ? जिसे महेरी कहते हैं। बनाया। अब भोजन करने बैठ गए। बाई जी ने कहा, जरा ठहरो थोड़ी सिरा जाय फिर खावो। बोले हमें गरम ही खानेकी इच्छा है। १० मिनट बाद खाया तो क्या बात रही ? तो बाई जी ने एक थालीमें थोड़ा सिरा करके महेरी परस दिया। रंग तो एक ही सा होना है। थोड़ी गरम थी और खाना जल्दी जरूरी था उनके भावके मुताबिक। उसे खाया। खराब लगी तो थाली दूर पटक दिया। बाई जी बोलीं, ठहरो अभी ठीक-ठीक सिरा नहीं पाई होगी, इससे ठीक न लगी होगी। दूसरी थालीमें खीर परोस कर दी तब फिर खूब खाया। जब खा चुके तो बाई बोली, भैया ! तुम तो कहते हो कि हम शांत हैं, पहिले हमने परोसी थी महेरी उसपर तुम्हारा क्या हाल था ?

धर्मात्मा-- आप सच समझो कि ऐसी धर्ममाता मिलना मुश्किल है जो दूसरी बिरादरीकी थी और गुरु जी दूसरी बिरादरीके थे। बाई जी थी गोलापूरे जैन और महाराज थे असाटिया वैश्य। कुछ नाता नहीं बिरादरी नहीं। लेकिन एक धर्मभावनासे इनको रखा। उन्हें हर तरह की सुविधा दी। अगर कहीं ५०० रुपये भी बिना पूछे दे आए तो बाई जी के चित्तमें मलिनता का भाव न आता था। कई प्रसंग ऐसे आए कि बाई जी से बिना पूछे गुरु जी हजार पांच-पांच सौ रुपये दे आए। लाखोंकी सम्पत्ति केवल एक अपरिचित, अपनी बिरादरी का भी नहीं, उसके योग्य बनानेमें, उसके पढ़ानेमें लगाया और उसके एवजमें महाराज जी ने बाई की ज्यादा परवाह भी नहीं की। यह भी नहीं था कि महाराज बाई जी की कभी सेवा करदें। बाई जी कभी-कभी यह कह भी देती थीं कि तुम दुनिया भर को तो शास्त्र सुनाते हो और हमें कभी आध घंटा भी नहीं सुनाया। इतने पर भी कुछ ध्यान न देते थे। लेकिन गुरुजी की पवित्र वृत्तिसे ही बाई जी प्रसन्न रहा करती थीं, सो चिरोंजाबाई की इस सेवा को कौन भूल सकता है ?

गुणाधिकोंका योग्य विनय— सो भैया ! जो अधिक गुणों वाले श्रमण हों उनकी अनेक प्रकारसे उपासना करनी चाहिए। जो अपनेसे अधिक गुणों वाले श्रमण हैं उनकी कितने प्रकारसे विनय करने योग्य

हैं? सामनेसे आ रहे हों तो उठकर खड़े हो जाना अर्थात् अभ्युत्थान करना और कुछ उनकी ओर जाकर उनके साथ आना, उनका सत्कार करना, आइए, विराजिए कहना, उनको उच्च आसन पर बिठाना और फिर शुद्ध आत्माकी भावना की सहकारी कारणता जिस प्रकार हो सो सेवा करना और उन महा-श्रमणके लिए भोजन, शय्या आदिकी चिन्ता करना, और जो खुद किया जा सकता है उतना खुद करें, भोजन आरम्भ नहीं किया जा सकता है तो उसका यथासम्भव लोगोंको सूचना या संकेत देना, किसी प्रकारकी व्याधि हो या कोई रोग हो उसकी भी सलाह करके गृहस्थोंको बताना—यही उनकी सेवा है, पोषण है और उनका सत्कार है।

संत श्रमणोंका सत्कार— संतोंमें जो गुण हैं उन गुणोंको प्रकट करना यही संतोंका सत्कार है। किसीको मात्र भोजन करा देना यह सत्कारमें शामिल नहीं है और उनके गुणोंका वर्णन करना, रत्नत्रयके गुणोंकी बात बताना, आपमें बहुत दृढ़ श्रद्धा है, आप अपने मार्गमें बहुत दृढ़तासे चलते हैं, आपका ज्ञान निर्मल है, आपका ध्यान भी अद्भुत है, आप अपने आत्महितमें उद्यमी रहते हैं इत्यादि यथार्थ स्तुतियोंसे उनका सत्कार करना, अंजुलि करना, दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करना और नमस्तोस्तु शब्दोंसे उनको प्रणाम करना। यह सब उन महामुनियोंके विनयका उपाय है। शुभोपयोगमें ये सब क्रियाएँ की जानी चाहियें। अब प्रकारान्तरसे उन मुनियोंके विनयकी प्रक्रिया बतलाते हैं और साथ ही साथ यह भी ध्वनित करते हैं कि यदि वे श्रमणाभास हैं, झूठे मुनि हैं तो उनके प्रति ये सब प्रवृत्तियां न करनी चाहियें।

अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उवासेया।
संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं ॥२६३॥

ज्ञानाधिकोंका विशेष विनय— जो साधु चारित्र गुणोंमें अधिक भी न हों, तपस्यामें भी अधिक न हों तो भी सम्यग्ज्ञान गुणोंसे बढ़े चढ़े हों, तो श्रुतका विनय करनेके लिए, ज्ञान विनयके लिए वे भी अभ्युत्थान आदि विनयोंके योग्य होते हैं और यह विनय व्रत, क्रिया संयम ज्ञानकी सिद्धिके के लिए है। सम्यग्दृष्टिका शुद्ध उद्देश्य और लक्ष्य रहता है। वे सुभ-क्रियावोंकी प्रवृत्ति तो करते हैं मगर झुकाव उनका शुद्धतत्त्वकी ओर है और वे उस शुद्धतत्त्वकी ओरके झुकावके कारण ही रहे सहे रागवश शुभोपयोगकी क्रियाएँ करते हैं।

शुभोपयोगकी क्रियायें शुभोपयोगके लिए नहीं, किन्तु शुद्धोपयोगके

यत्नके लिये हैं—जैसे कोई पुरुष अपने मित्रसे बातें कर रहा हो, बातचीत के प्रसंगमें कभी कोई कीड़ी मित्रके कोट पर चढ़ रही हो तो वह मित्रके कोटको साफ करनेके लिए कीड़ी हटाता है ? नहीं, मित्रके अनुरागवश वह उस कीड़ीको हटा देता है। उसमें मूल उद्देश्य मित्रका राग है। इसी प्रकार जितनी भी शुभोपयोगकी क्रियाएँ होती हैं वे शुभोपयोगके लिए नहीं होती हैं। उनका लक्ष्य वही नहीं है जो कर रहा है। जैसे उसके मित्रका लक्ष्य कीड़ी हटानेका नहीं है। उसका लक्ष्य है मित्रके अनुरागका, मित्रकी भक्तिका। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव जो भी क्रियाएँ करता है उसका लक्ष्य उन क्रियाओंको करना नहीं है किन्तु कर रहा है वह करना पड़ता है। उस शुद्ध-तत्त्वकी रुचि इतनी प्रबल है कि उस शुद्धतत्त्वसे सम्बन्ध रखने वाले देव गुरु शास्त्र इनके प्रति भक्ति बढ़ती है और उस भक्तिकी पूरक शुभोपयोग की क्रियाएँ होती हैं।

ज्ञानकी महिमा— ज्ञानकी बड़ी महिमा है। चारित्रमें और तपस्या में ऊंचा भी न हो लेकिन ज्ञानमें श्रेष्ठ हैं तो विशेष विनयके योग्य होता है। चारित्रवान् और तपस्वियोंके द्वारा भी वह पूज्य होता है। ऐसे महा-संतके विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावात्मक जो परमात्मतत्त्व है उसके सम्बन्ध में और अन्य अनेकतात्मक पदार्थोंके सम्बन्धमें जिसका बड़ा विशुद्ध ज्ञान है, वीतराग सर्वज्ञ देवके द्वारा प्रणीत जो शासन है उसके मार्गसे उनका ज्ञान और श्रद्धान् है। प्रमाणनयनिक्षेपोंके द्वारा वस्तुस्वरूपका विचार करनेमें जिसका चित्त चतुर है ऐसे सूत्रके विशारद पण्डित और अर्थके विशारद ज्ञानी संत वे विनयके योग्य हैं। केवल अभ्युत्थान या सत्कार ही किया जाने योग्य है ऐसा नहीं है किन्तु वे उपासनीय हैं, परमभक्तिसे उनकी सेवा करनी चाहिए क्योंकि परम चैतन्य ज्योतिस्वरूप परमात्म-पदार्थके परिज्ञानके वे निमित्त हैं।

विनय बिना अध्यात्म विद्याका लाभ असंभव— भैया ! विद्या विनय बिना कभी आ नहीं सकती। कदाचित् लौकिक विद्या, कला विद्या, या अन्य कोई कलाएँ जोर देकर भी सीखी जा सकती हैं। इनको सिखाने के लिए कोई शिक्षक रख दिया। वे सब विद्याएँ कदाचित् जोर देकर भी सीखी जा सकती हैं, विशेष रूपसे पूर्ण चतुराईसे नहीं सीखी जा सकती हैं। किसी विषयका काफी ज्ञान वहां साधारणतया किया जा सकता है पर आत्मविद्या मोक्षमार्गमें ला देने वाली विद्याकी शिक्षा विनयके बिना तो रंच भी नहीं आ सकती। इस कारण जो साधुजन तपमें भी अधिक नहीं हैं, चारित्रमें भी अधिक नहीं है, पर सम्यग्ज्ञानमें अधिक हैं ऐसे मुनि-

राज देव भी सेवनीय होते हैं। परम भक्तिसे वे उपासनाके योग्य होते हैं और फिर जो संयम, तप और ज्ञान इन तीनोंसे युक्त हैं, अधिक हैं वह तो प्रकटमें ही बहुत बहुत प्रकारसे बन्दनीय होते हैं।

संयम— भैया ! संयम क्या कहलाता है कि बाहरमें तो इन्द्रियमें संयम और प्राणसंयम चाहिए और अन्तरंगमें ज्ञायक स्वभावमात्र आत्मतत्त्वमें स्थिरता चाहिए। इन्द्रियविषयोंके साधनोंमें आसक्त न हों, उस ओर दृष्टि न दें और जीवहिंसा बचायें, यह तो है बहिरङ्ग इन्द्रियसंयम और प्राणसंयम और अंतरङ्गमें क्या संयम चाहिए कि जो अपना निज शुद्ध ज्ञानस्वरूप है, चैतन्यस्वभाव है उस चैतन्य स्वभावमें ही अपने को तपाना, सो है परमार्थसंयम। जबकि संसारी जीवको बाह्यपदार्थोंमें अपना दिल लगाना सरल बन रहा है, विषयोंमें प्रवृत्ति होना सुगम बन रहा है, विषयोंमें प्रवृत्ति करना सुगम बन रहा रहा है ऐसे जीवोंको अपने आपके शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें जोड़नेमें कितना कष्ट होता होगा और स्वरूपके रुचियोंको स्वरूपमें जुड़नेका कितना आनन्द आता होगा ?

संयमसे अज्ञानीके घबड़ाहट— जैसे पानीमें डूबा हुआ पुरुष देर तक डूबा रहे तो उकता जाता है और पानीसे निकले तो ऊपरको मुंह उठाने को उत्सुक होता है और बाहरमें मुंह निकालनेमें वह आरामका अनुभव करता है। इसी प्रकार मलिन रागी जीव कदाचित् किसीको सिखाये या किसी प्रसंगमें कुछ अपने आत्माकी ओर ज्ञानको ले जाये, कुछ वहां झुके तो अपने चित्तको, अपने आत्माकी ओर बनाए रखनेके काममें घबड़ा जाता है। वहांसे निकलकर बाहर उपयोग लगाना चाहता है और बाह्यपदार्थोंमें दिल लगाकर विश्राम मानता है। आप अपने आप सोचिए कि अपने आपमें अपना उपयोग जमा लिया, रमा लिया तो वह कितना ऊंचा तप है ? यह है अंतरङ्ग संयम।

ज्ञानाधिक तपस्वी संत— जो श्रमण बहिरङ्ग और अंतरङ्ग संयमसे युक्त हैं ऐसे साधुजन विशेषतया वांछनीय, आदरणीय, उपासनीय हैं और तपस्यामें भी जो अधिक हैं वे तो विशेषरूपसे प्रतिपवनीय हैं ही अर्थात् जिनके चरणोंमें अपने आपको डाल दिया जाय ऐसे महापुरुष होते हैं। तपस्या क्या है ? अनशनादिक जो १२ प्रकारके तप हैं, भोजन का त्याग करना, भूखसे कम खाना, अटपट प्रतिज्ञाएँ लेना, रसों का त्याग करना, एकांतमें सोना बैठना, उठना और नाना प्रकारके आतापन योग आदिकसे काय क्लेश करना, ये सब बाह्य तप हैं। अकेले रहना भी एक तप है। देखो--सारी मनुष्य अकेले नहीं रहना चाहते। वे चाहते हैं कि

में बातें करूँ, बीचमें रहूं। विविक्त शय्यासन भी कठिन तप है। ये तो बाह्य तप हैं और प्रायश्चित्त करना, विनय करना, सेवा करना, स्वाध्याय करना, परिग्रहसे ममताको छोड़ना यह अंतरंग तप है। ये बारह प्रकारके तप परमार्थ तपके मुकाबलेमें बहिरङ्ग हैं।

परमार्थ तप— परमार्थ तप क्या है कि परद्रव्योंकी इच्छाका निरोध करके अपने ही स्वरूपमें तपना सो परमार्थ तप है। तपस्यामें जो अधिक है वह भी प्रतिपतनीय है ऐसे तपस्वी तो प्रतिपतनीय विशेष हैं। परम आगमके अभ्याससे जो ज्ञान हुआ सो तो बहिरङ्ग रूपसे ज्ञान है और उस ज्ञानके बलसे अंतरङ्गमें अपने आपके सहजस्वरूपका सम्वेदन करना, सो अन्तरङ्गरूपसे सम्यग्ज्ञान है। यों संयम, तप और ज्ञानसे जो युक्त हैं ऐसे पुरुष भी यथासम्भव प्रतिवन्दनीय होते हैं।

दर्शन ज्ञानकी दृढ़ता— यहां यह तात्पर्य बताया है कि जो पुरुष बहुश्रुत हैं, सम्यग्ज्ञानसे परिपूर्ण हैं, ज्ञानी हैं वे चारित्रमें अधिक नहीं हैं तो भी परमागमके ज्ञानाभ्यासके लिए यथायोग्य वंदनीय होते हैं। दूसरी बात यह है कि वे पुरुष तो सम्यक्त्व और ज्ञानमें पहिले से ही दृढ़तर हैं, मजबूत हैं और कोई नवीन तपस्वी पुरुष जो तपस्यामें भी नये प्रभावसे बढ़ जाये तो भी सम्यक्त्व और ज्ञानमें उनके ज्ञानी गुणगम्भीर संतोंके मुकाबले वे दृढ़तर नहीं हैं। तो जो ज्ञानमें दृढ़ हैं, जो ज्ञानमात्र परिणतिमें यत्नशील हैं ऐसे श्रमण प्रतिपतनीय होते हैं।

वंदनमें सामान्य और विशेष कथन— प्रश्न— फिर आगममें बड़े पुराने श्रमणोंके द्वारा थोड़े चारित्र वालोंके आगममें वंदनीयताका निषेध क्यों किया है ? उत्तर— बड़े चरित्र वाले भी छोटे चरित्र वालोंका वंदन आने पर स्वीकारात्मक प्रतिवंदन करें। इसका तो निषेध है ही नहीं, किन्तु पुराने दीक्षित ज्ञानाधिकका भी कदाचित् वंदन करें, ऐसा क्यों ? इसका कारण यह है कि अतिप्रसंग न हो जाय, अर्थात् अव्यवस्था न हो जाय, इसलिए अल्पचरित्र वालोंको वंदनका निषेध किया है। यह तो सामान्य या उत्सर्ग कथन है जिसमें कुछ विवाद नहीं है किन्तु ज्ञानादि गुणाधिक होनेसे ये श्रम भी प्रतिपतनीय होते हैं, यह विशेष या अपवाद-मार्गीय कथन है। यह एक विशेष बात भी आगममें आती है। इस गाथा में यह बताया गया है कि जो चरित्रमें अधिक न भी हों, किन्तु ज्ञानसे अधिक हों तो भी परमागमके विनयके लिये व व्रत और ज्ञानकी सिद्धिके लिए उनकी वंदना करनी चाहिए।

श्रमण व श्रमणाभासोंके प्रति व्यवहार— श्रमणजनोंके द्वारा, जो

सूत्र और अर्थके पंडिताई से जिनका संयम, तप और आत्मज्ञान बराबर व्यवस्थित चल रहा है ऐसे श्रमणजनों की अभ्युत्थान आदिक वृत्तियां की जानी चाहियें। किन्तु जो श्रमण, साधु झूठे हैं उनके लिए ये अभ्युत्थान आदिक क्रियाएँ नहीं करनी चाहियें। इसीको विशद जाननेके लिये अब यह बतला रहे हैं कि वे कैसे पुरुष होते हैं जो श्रमणाभास कहे जाते हैं। जो झूठे मुनि हैं उनका वर्णन किया जा रहा है। यहां यह नहीं समझना कि ज्ञानी गृहस्थ की मुनि वंदना करे। यह तो मुनियोंकी परस्परकी बात है। जो मुनि चरित्रमें अधिक नहीं हैं ज्ञानमें महान् हैं उनकी वंदना करो। जो मुनि चारित्र और ज्ञानमें बड़े हैं उनकी वंदना तो करो ही करो। अब श्रमणाभासका लक्षण कहते हैं।

ण हवदि समणोत्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तोवि।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे ॥२६४॥

श्रद्धाहीनताके कारण श्रमणाभासता— जो साधु संयम, तप और आगम ज्ञानमें भी बढ़े चढ़े हों किन्तु जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रणीत आत्मतत्त्वादिक पदार्थोंके सहजस्वरूप की श्रद्धा नहीं करते हैं वे श्रमण नहीं हैं। वे श्रमणाभास हैं।

देखिये भैया! चरित्रमें कमी आने पर भी 'शुद्ध आत्मतत्त्वकी श्रद्धा में जो दृढ़तर हैं उन्हें श्रमणाभास नहीं कहा जाता, पर बाह्य तप चरित्रमें महान् हों और आत्मश्रद्धामें युक्त न हों तो वे श्रमणाभास हैं। जैसे सिंहकी खाल मिल जाय किसी स्यालको या गधे को और उस खालको ओढ़कर वनके जीवोंको अपना महात्म्य दिखावे तो उस महात्म्य दिखाने से क्या होता है? अंतरङ्गमें तो शूरता है ही नहीं। इसी प्रकार कर्म ईंधनको नष्ट करनेकी सामर्थ्य सम्यग्ज्ञानकी कणिकामें है, वह सम्यग्ज्ञान यदि अपने आपमें नहीं है तो तपस्या और चारित्रका कितना भी बड़ा भार और बोझा लाद लिया जाये पर उससे क्या होता है? मोक्षमार्ग, कर्मनिर्जरा तो तनिक भी उसके नहीं होती है। इस कारण जो आगमके जानकार भी हों, संयममें भी बढ़े चढ़े हों, तपस्या भी जिनकी ऊँची हो किन्तु जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा प्रणीत अनन्य अर्थसे निर्भर इस समस्त विश्वको अपने आत्माके द्वारा ज्ञेयरूपसे पी जाने के कारण आत्मतत्त्व आदिक द्रव्यके मर्मकी श्रद्धा नहीं करते हैं तो वे श्रमणाभास हैं।

आत्मज्ञान विना मार्गदर्शनकी समीचीनता का अभाव— देखो बाह्यज्ञानबलसे इन तपोधारियोंने सबको ज्ञेयरूपसे पी डाला अर्थात् अपने आपमें भर लिया, ऐसे कि खुदमें सारे विश्वको भर लिया और खुद कुछ

नहीं रहे। जैसे कोई पुरुष एक छोटी पंगत करे और उस पंगतके स्थानमें अपरिचितोंको, गैरोंको सबको भर ले, अपने वंशके और कुटुम्बजनोंकी खबर न रखे तो क्या कहा जाता है कि इसने सब गैरोंको तो भर लिया है और अपने लोगोंका ध्यान भी नहीं रखा। इसी प्रकार आगम ज्ञान तो इतना बढ़ा चढ़ा हो गया है जो सर्व विश्वको सर्व चर्यावोंको अपने आपमें भर लिया है और ऐसा भर लिया है कि अब वहां अपने घर वालोंको खिलानेके लिए सीट भी खाली नहीं हैं। समस्त विश्वको जान लिया है और अपने स्वतत्त्वकी याद भी नहीं होती। ऐसे वे साधुजन आगमके ज्ञाता भी हैं, संयममें भी बढ़े चढ़े हैं, तपस्यामें भी बड़े हैं तो भी वे आत्म-प्रधान तत्त्वकी श्रद्धासे रहित हों तो वे झूठे मुनि हैं, श्रमणाभास हैं।

आत्मतत्त्वके अवगमकी महिमा— ज्ञानकी अपूर्व महिमा है। ज्ञान, वह ज्ञान कहलाता है जो ज्ञान अपने स्वरूपको भी समझ सके। जो ज्ञान अपने स्वरूपको नहीं समझ सकता है उस ज्ञानको ज्ञान नहीं बताया, उसे अज्ञान कहा है। वह दीपक क्या है जो अपने आपको भी न जता सके, न प्रकाशित कर सके। यदि कोई ऐसी चीज है जो खुदको तो प्रकाशित न करे और कहें कि यह सबको प्रकाशित करता है तो क्या आप उसे स्वीकार कर लेंगे कि हां होगा कुछ ऐसा। कोई ऐसी चीज है जो खुदको प्रकाशित न करे और दूसरोंको प्रकाशित करती है? सम्यग्ज्ञान वही है जो ज्ञान अपने स्वरूपका भी सम्वेदन करता रहे। मोक्षमार्गके लिए तो चाहे बाह्यपदार्थोंको विशेप न जानें, किन्तु अपने आपके स्वरूपका विशद ज्ञान है तो उसके मोक्षमार्ग चल जायेगा।

श्रमणाभासके अर्हत्त्वकी कणिकाका अभाव— ऐसे साधुवोंको श्रमणाभास कहा है जो साधु यद्यपि संयम, तपमें बढ़े-चढ़े बन गए हैं जिससे कि सर्वविश्वको अपने आपमें भर लिया है और खुदके जाननेकी जिज्ञासा भी नहीं रही, ऐसे आत्मतत्त्वका श्रद्धान् न रखने वाले साधु श्रमणाभास कहे जाते हैं और ऐसे श्रमणाभासमुनि वंदनादिकके योग्य नहीं होते हैं। जैसे ठंड मिटानेमें अग्निकी कणिकाका प्रताप है। आप काठ पत्ते आदिका कितना ही बड़ा ढेर लगा लें जो कि सामने बड़ा संग्रह दीखता है और वहां अग्निकी कणिका न मिले तो क्या इतने बड़े ढेरसे ठंड मिट जायेगी? नहीं। तो ठंडके मिटानेमें महिमा है अग्निकणिकाकी।

सहवाससे श्रमणाभासकी सुपरिचितता— प्रकृतो वह अग्निकण है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रयधर्म। तीनोंके तीनों ज्ञानसे सम्बन्ध रखते हैं। यदि सम्यक्त्व नहीं है तो सब मिथ्यात्व

कहलाता है मिथ्या श्रद्धान, मिथ्याज्ञान और मिथ्या आचरण। आप कहेंगे कि इतनी परीक्षा तो हम किसी साधु संतकी नहीं कर सकते, जो इतना तप और चारित्रमें बढ़ा चढ़ा है और मोक्षमार्गकी असली जड़ उसके पास नहीं है, इतनी हम उसकी पहिचान तो नहीं कर सकते हैं। तो यह प्रकरण है मुनियों का। मुनिजन जहां परस्परमें वर्षोंसे रह रहे हैं तो वैसे यहां हम आप पड़ौसियोंकी कि बारीकसे बारीक आदतों को समझते हैं। इसी प्रकार संगमें वे मुनिजन अपने सहवासीकी बारीकसे बारीक आदतों को समझते हैं और उनके प्रकरणमें यह कहा जा रहा है। ऐसे श्रमणाभास मुनि वंदनीय नहीं होते हैं।

अब दूसरे साधुकी साधुताके साथ अनुमोदना न करने वालेके अथवा उसे कुछ पुरुषत्वकी निगाहकी दृष्टिसे देखने वाले मुनिके श्रामण्य नहीं रहता है, उसका विनाश होता है। इस बातको अब दिखाते हैं।

अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि।
किरियासु णाणुमण्णदि हवदिहि सोणट्ठचारित्तो ॥२६५॥

जो साधु शासनमें स्थित श्रमणको देखकर द्वेषवश उनका अपवाद करता है, उनके क्रिया कर्त्तव्यकी अनुमोदना नहीं करता है या उनकी क्रियावोंमें ग्लानि करता है वह श्रमण चरित्रभ्रष्ट हो जाता है।

अपवादकर्ताकी चारित्रभ्रष्टताका कारण— जो मुनि निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्गमें स्थित है उसका अपवाद यदि कोई करता है तो वह चरित्रभ्रष्ट हो जाता है। अपवाद करना कषायसे हुआ करता है। किसीके प्रति द्वेष हो तो उसका अपवाद किया जाता है। यह द्वेष इस निर्दोष परमात्मभावनासे बिल्कुल विपरीत है। इस दुर्लभ नरजीवन को पाकर कहां तो यह कर्तव्य था कि निर्दोष परमात्मतत्त्वकी भावनामें अपना समय लगाता और यह कहां इतने तुच्छ विचार वाला हो गया कि दूसरोंका अपवाद और निन्दा करनेमें प्रसन्न रहा करता है। द्वेषवश या गौरववश दूसरे शासनस्थ साधुका अपवाद करता है और यथायोग्य वंधादिक क्रियावोंमें अनुमोदना नहीं रखता है। किसी साधुसे वंदना किया तो उसकी वंदनाका उत्तर विनयपूर्वक नहीं दे सकता है या उसकी ओर दृष्टि नहीं रखता है तो चूंकि उसके द्वेष भावके कारण मलिनता आई। सो उसका चरित्र नष्ट हो जाता है।

अपवादकर्त्ताकी प्रथम व अप्रथम स्थितियां— यह अपवादकर्ता पहिले तो कुछ भ्रष्ट होता है और फिर उस अपवादमें अधिक लग जाए, अति प्रसंग कर जाये तो उसका चरित्र मूलसे नष्ट हो जाता है। किसी

तपस्वीको देखकर ईर्ष्यालु साधु मात्सर्यके वशसे दोषको ग्रहण करता है। अमुक तो यों हैं, इस प्रकार दोष ग्रहण करनेसे वह चरित्रसे भ्रष्ट हो जाता है। यदि वह पीछे अपनी निन्दाको करके संभालता है तो दोष नहीं है। या कुछ समय बाद अपनी गलतीको स्वीकार करता है तो वह निर्दोष हो जाता है। लेकिन यदि अपवादके करनेमें ही अपने अभिप्राय रखता है और अपवाद किए ही जाता है तो तीव्र कषायके वशसे चरित्रसे वह भ्रष्ट हो जाता है। जिसे कहते हैं कि इसने तो निन्दा करनेमें हद कर दिया। जब अपने पदके योग्य हदको तोड़ देता है तो उसका चरित्र मूलसे नष्ट हो जाता है।

साधुका साधुके प्रति व्यावहारिक कर्तव्य- किसी भी मोक्षमार्गी साधुका अपवाद करना और उनके दोषोंको ग्रहण न करना। जो बहुश्रुत पुरुष हैं, विशेष ज्ञानी जीव हैं उनको भी अल्पज्ञानी, अल्पतपस्वियोंका दोष न ग्रहण करना चाहिए। उन बड़े विद्वान् और तपस्वियोंसे कुछ भी पाठ ग्रहण करो। बड़े तपस्वी पुरुषोंको अल्पतपस्वी बहुश्रुत साधुवोंके पास कुछ पाठमात्र ग्रहण करके अपने आत्महितमें लगना चाहिए, उनके दोषोंको ग्रहण न करना चाहिए। कुछ सारभूत बात ग्रहण करके स्वयं अपने आपमें इस सारशरण आत्मतत्त्वकी भावना करना चाहिए। क्यों कि जितनी भी साधना की जाती है वह वीतराग बननेके लिए की जाती है। यदि किसी प्रसंगसे रागद्वेषकी उत्पत्ति होती हो तो उसमें न तो ज्ञान का फल रहता है और न तपस्याका फल रहता है।

उत्सर्ग व अपवादकी मैत्री स्मृति— इस प्रकार शुभोपयोगके प्रकरण में कुछ विशेष खुलाशा रूप कर्तव्य और अकर्तव्यको दिखाते हुए उसकी ही व्याख्या की गई है। इस प्रकरणसे और कुछ पूर्वसे इस चारित्र अधिकारमें उत्सर्गका वर्णन भी चला था कि तपस्वीका कर्तव्य है कि वह सर्व संकल्प विकल्प जालोंको छोड़कर मात्र अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपका ही दर्शन किया करे। उस व्याख्याके करनेके बाद फिर प्रैक्टिकल रूपके लिए बढ़े, तो यह विदित हुआ कि इस परम उत्सर्गमार्गमें गमन करना तो बड़े ऊंचे पुरुषार्थका काम है। यदि इस उत्सर्गमार्गमें नहीं चल सकते, ऐसे असमर्थ तपस्वीजन हों तो समयकी अपेक्षा कुछ ज्ञान, संयम और शुद्धिके उपकरण आदिकको ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार इस अपवादकी बात कही गई है।

आगमोक्त प्रवृत्तिके ही अपवादमार्गपना— अपवादसे प्रयोजन अयोग्य अपवादका न लेना कि चलो ठंड चली है तो कम्बल रख लें।

भूख बार-बार लगती है तो कुछ पास रखलें, खा लें और दूसरी बारको
भी बचाकर रख लें, ऐसा अपवाद नहीं लेना क्योंकि साधु परमेष्ठी
कहलाता है और परमेष्ठित्वके नातेसे उसका चरित्र इतना उज्ज्वल रहना
चाहिए जिससे लोगोंको मोक्षमार्गका दर्शन हुआ करे। मोक्षमार्गकी विधिसे
साधुपुरुष उत्सर्गमार्गकी ओर झुके हुए रहते हैं, यह भी बताया था।

भेदनय व अभेदनयसे आराध्य आराधना— इस प्रकरणमें जिस
प्रकार भेदनयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप-
श्चरणरूप चारों प्रकारकी आराधना हो सके, उस प्रकारसे वर्णन किया है
उसको अभेदपद्धतिमें ले जायें तो केवल दो ही रूप बना लिये— सम्यक्त्व
और चारित्र। सम्यक्त्वमें आ गया सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान और चारित्र
में आ गया सम्यक्चारित्र व सम्यक्तप। फिर इन दोनोंमें भी और
अभेदविवक्षा बनायें तो एक शब्दको कह लो वीतराग सर्वज्ञकी आराधना।
इस प्रकार चूंकि अभेदरूप और भेदरूप दोनोंकी भावनासे काम निकलता
है, सो उत्सर्ग और अपवाद दोनोंका अदल बदल करके बराबर निरूपण
चला करता है।

भेदनय व अभेदनयसे मोक्षमार्ग— अब इस ही वीतराग चारित्र
को फिर भेदनयसे देखो तो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र
तीनों प्रकारसे मोक्षमार्गका मार्ग दीखा। यह मोक्षमार्ग त्रितयात्मक होता है,
अब उस ही मोक्षमार्गको यदि अभेदनयमें देखो तो श्रामण्य ही मोक्षका
मार्ग है। समता जैसा सहजस्वरूप है उसका स्वभाविक परिणमन बस
यह मोक्षका मार्ग है। इसही अभेदरूप मोक्षमार्गकी मुख्यतासे पहिले तेरहवीं
चौदहवीं गाथावोंमें अभेदरूप वर्णन किया गया था और बताया गया था
वहां कि साधुको केवल अपने शुद्ध सहज ज्ञानस्वभावमें ही एकाग्र होना
चाहिए। पर यह बात जब नहीं बन सकी तो भेदरूपसे वर्णन करना पड़ा
और उसमें इस शुभोपयोगकी चर्याओंको बताना पड़ा। इसलिए शुभो-
पयोगरूपसे जो इस प्रकार इस प्रकरणमें वर्णन किया गया है उससे पुन-
रुक्तिका कोई दोष नहीं आता। इस प्रकार यहां तक यह बताया गया है कि
साधुवोंको दूसरे साधुवोंके प्रति कैसा व्यवहार रखना चाहिए?

अब यह बतलाते हैं कि जो श्रामण्यसे अधिक हो, जिसमें समता,
ज्ञान, श्रद्धान्, तपस्या विशेष हो उसके प्रति यदि हीनरूपसे आचारण करे
उसे कम समझता हुआ उसके साथ हीनताका व्यवहार करे तो साधुका
श्रामण्य नष्ट हो जाता है।

अणदोयिगस्स विणयं पडिच्छगो जोवि होमि समणोत्ति।
होज्जं गुणाधरो जदि सो होदि अणंतसंसारी॥२६६॥

मैं श्रमण हूं, साधु हूं, ऐसा अभिमान करके ज्ञान, संयम, तपस्या आदि गुणोंसे भी उत्कृष्ट महामुनियोंके द्वारा भी अपनी विनय करानेको जो श्रमण चाहता है वह निर्गुण मूढ़ होता हुआ, गर्वमें भरा हुआ अनन्त संसारी होता है।

बड़ोंसे विनय चाहनेका कुफल— खुद तो गुणोंमें हीन हैं पर पर्याय बुद्धि कर लेनेमें जिसने अपनेको श्रमण माना है कि हम साधु हैं ऐसे गर्व के कारण जो विशेष गुणी भी हैं, जो संयम, तप, ज्ञानमें अधिक हैं उनसे भी जो अपना विनय चाहते हैं वे पुरुष गुणोंसे हीन हैं और वे अनन्त संसारमें परिभ्रमण करने वाले होते हैं। तात्पर्य यह है कि जो पुरुष अपने से बड़े गुणी पुरुषोंसे भी विनयकी वाञ्छा करते हैं और इसके लिए वासना बनाए ही रहते हैं वे संसारमें परिभ्रमण करते हैं।

कुफलसे बचानेवाली सावधानी— साधुसे कभी गुणाधिकसे विनय करानेकी यह गलती हो जाय तो पीछे वह आत्मनिन्दा करले, अपने को संभाल ले तो अनन्तसंसारी नहीं होता। क्या संसारमें मैं ही एक प्रभु हूं? अरे इस लोकमें मुझसे बढ़कर गुणी अनेक पुरुष हैं। अहो! मैंने अमुक प्रसंगमें ऐसे भी बड़े संत पुरुषोंसे विषयवासना बनाई थी। मुझे धिक्कार है, मैंने रत्नत्रयके स्वरूपमें कहां प्रीति की थी? केवल पर्यायबुद्धिके नशेमें अटसट वाञ्छा कर गया था। इस प्रकार यदि यह आत्मनिन्दा करता है तो अनन्तसंसारी नहीं होता है। यदि मिथ्याअभिमान करता है अपनी ख्यातिके लिए, पूजाके लिए दुराग्रह करता है तो वह अनन्त संसारी होता है।

निर्दोष आत्मस्वरूप— भैया! जरा आत्मस्वरूपको तो देखो। यह आत्मा स्वभावसे ज्ञानस्वरूप है, ज्ञायकमात्र है, इसमें स्वयं कोई अपराध नहीं है। इसका परिणमन केवल ज्ञाता द्रष्टा रहनेका है, पर-उपाधिका सान्निध्य पाकर यह अयोग्य उपादान नाना प्रकाररूप परिणम जाता है किन्तु ज्ञानी पुरुष जो ज्ञानमात्र अपना स्वरूप देख रहा है उसकी अन्तर्ध्वनि है कि यह विकल्प, यह पाप, यह विचार यह अस्थिरता मैं नहीं कर रहा हूं, मैंने नहीं किया. मैं तो शुद्ध एक ज्ञानमात्र हूं। अहो यह सत्यका आग्रह ही परम समता है। अब तक संसारी जीवों ने काम भोग बंधकी कथा ही सुनी है, उसका ही परिचय है और उसही पद्धतिसे सारे जमाने

को देखते हैं और चेष्टावोंमें अपने विषयसाधन की बात निकाल लेनेसे अपनी बुद्धिमानीका कार्य समझते हैं, किन्तु यह शुद्ध आत्मस्वरूप जो स्वरसतः अपने आपमें सहजमात्र ज्ञानस्वरूप है, जाननके अतिरिक्त कुछ भी इसमें रंग और तरंग नहीं है--ऐसे शुद्ध ज्ञानस्वरूप को निहारने वाले ज्ञानीपुरुष साधुसंत अपनेको निरपराध देखते हैं तो ऐसे ही जगतके समस्त संसारी जीवोंको भी निरपराध देखते हैं।

शोधकके दुर्गतिकी असंभावना— अपराध करता कौन है ? अपराध होता है तब जब कि परिस्थितियां बन जाती हैं। अपराध करनेमें क्या किसीका प्रोग्राम बनता है ? अपराध तो नैमित्तिक कार्य है। परिस्थितियां होती हैं तो अपराध बन जाता है। मैं तो स्वरसतः शुद्ध ज्ञानस्वरूप मात्र हूं, अहो कैसी दुर्बुद्धि आई थी कि ऐसे गुणी पुरुषोंका भी मैं अपवाद कर गया, इस मेरे परिणमनको धिक्कार हो, मैं अपने आत्महितके मार्गसे चिग गया था। मुझे क्या प्रयोजन था कि आत्महितकी साधनाको मंद करूँ और व्यवहारमें आपत्तियां मोल लूँ। ऐसा ध्यान करके जो पीछे भी आत्मनिन्दा कर लेते हैं वे संसारमें रुलने से बच जाते हैं।

ईर्ष्याका कारण गुणहीनता— स्वयं तो जघन्य गुण वाला है। खुद में तो कोई कला करामात है नहीं और मैं श्रमण हूं, ऐसे गर्वमें आकर दूसरे गुणाधिक पुरुषोंके द्वारा विनयको चाहता है वह मूढ़ है। जिनमें कला कौशल न हो और इसी कारण लोगोंमें सन्मान भी न हो। प्रायः उसमें ही अधिक गुणी पुरुषोंके साथ ईर्ष्याका परिणाम हुआ करता है। जैसे जिनका रोजगार धंधा अच्छा चल रहा है उस धंधेके काममें ही वे आसक्त रहते हैं तो उनको तुच्छ बातों की, अटपट बातोंकी यहां वहां की निन्दाकी बातें करनेकी फुरसत कहां है ? निन्दा करनेकी, अपवाद करनेकी फुरसत होती है बेकार लोगोंको अथवा गुणहीन लोगोंको। गुणवान पुरुष कभी बेकार तो रहते ही नहीं हैं। यदि व्यवहारिक कोई काम नहीं मिलता तो अपना मन तो कहीं गया ही नहीं। प्रभुभजनमें गुण स्मरणमें, आत्मस्मरणमें, मंत्र जपनेमें अपने समयको लगा देते हैं। वे बेकार कभी नहीं रहते हैं, पर जो गुणहीन हैं वे पुरुष और व्यवहारमें भी उन्हें अर्थार्जन का काम नहीं मिलता है तो वे बेकार रहते हैं। और ऐसे बेकार गुणहीन पुरुषोंमें दूसरे गुणियों पर ईर्ष्याका भाव रहता है। उस ईर्ष्या परिणामके कारण और अपनी बड़ाई की अभिलाषा रहनेके कारण स्वयं गुणहीन होकर ऐसे गुणाधिक पुरुषोंसे जो सन्मान चाहते हैं वे शुद्ध श्रामण्यमें

अवलेप लगाते हैं। श्रामण्यको मिट्टीसे लीप देते हैं, ढक देते हैं और कदाचित् वे अपवाद करनेकी धुनको बढ़ाते ही जायें तो उनका सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है और अनन्तसंसारी बन जाता है। इस कारण अपनेसे जो विशेष गुणी साधु हैं, उन साधुवोंसे अपना विनय सन्मान करानेकी इच्छा नहीं होनी चाहिए। यदि इच्छा करता है तो यह अनन्तसंसारी बन सकता है।

अब अगली गाथामें यह बात बतलाते हैं कि जो व्रत, संयम, तप, ज्ञान, समताके समन्वयरूप श्रामण्य भावमें अधिक हैं, गुणी हैं, उत्कृष्ट साधु हैं, वे यदि गुणहीन, मोही, मूढ़, चरित्रभ्रष्ट साधुवोंके साथ बरावर का आचरण करते हैं या उनकी विनय करते हैं तो वे गुणी साधु भी अपना नाश करते हैं। न तो विशेष गुणियोंसे अपनी विनय करना उचित है और न गुणहीन साधुवोंमें मिले जुले भिचे रहना, उनकी विनयमें लगना उचित है।

अधिगगुणा सामण्णे वट्टंति गुणाधरेहिं किरियासु।
जदि ते मिच्छुवजुत्ता हवंति पब्भट्ठचारित्ता ॥२६७॥

जो स्वयं गुणोंमें अधिक है वह यदि गुणहीन पुरुषोंके साथ वदनादिक क्रियावोंमें जुटता है तो वह मोहसे मिथ्योपयोगी बन जानेके कारण चारित्रसे भ्रष्ट हो जाता है।

अनुभवसे वन्द्य व अवन्द्यकी परख— भैया! यह बात सिखानेसे नहीं आती कि हमें किसके साथ क्या व्यवहार करना चाहिए? कहीं ऐसा न हो जाये कि हो तो वह गुणी पुरुष और उससे ही हम विनय चाह लें। कहीं ऐसा न हो जाये कि है तो गुणहीन और मोही पुरुष और उसको हम नमस्कार प्रणाम करने लग जायें, ये सब बातें सिखाई नहीं जाती और न इनकी लिस्ट बनती है कि चलो आज लिस्ट बना लें कि कौनसे साधु अच्छे हैं, कौनसे साधु बुरे हैं? सो जैसा यह ग्रन्थ बताता है उसके माफिक उनसे व्यवहार करने लगें, यह न सिखानेसे आता है और न इसकी सूची बनती है किन्तु जो मोक्षमार्गमें निच्छल होकर आगे बढ़ रहा है ऐसे पुरुषको ये व्यवहार स्वाभाविक आ जाते हैं।

प्रतिभाका एक दृष्टान्त— बुन्देलखण्डके एक राजाका देहान्त हो गया। उसका लड़का छोटा था। राज्य गवर्नमेन्टके एजेन्टने संभाल लिया। जब वह लड़का २०–२२ वर्षका हुआ तो महारानीने पत्र लिखा कि अब मेरा लड़का राज्य करने योग्य हो गया है, इसे राज्य दे दिया जाये। एजेन्टने लड़केकी परीक्षा करनेके लिए उसे बुलाया। महारानीने अपने

लड़केको भेजनेसे पहिले १०-१२ बातें खूब सिखा दीं। बेटा, अगर साहब यों पूछे तो यों जवाब देना, यों पूछे तो यों जवाब देना, १० १२ बातें सिखा दीं। तो वह लड़का कहता है कि मां यदि इन १० बातोंमें से कोई भी बात न पूछे तो? मां कहती है, बेटा! अब तू नियमसे सफल होकर आयेगा। जब तेरे चित्तमें इतनी प्रतिभा जगी, ऐसा तर्क करना सामूली प्रतिभाका काम नहीं है, जब तुम हमसे तर्क कर सकते हो तो तुम उत्तर देकर ही आवोगे। राजपुत्र गया। एजेन्टने उसके दोनों हाथ पकड़ लिए और कहा, अब तुम क्या कर सकते हो? वह लड़का बोला, महाराज अब तो हम सब कुछ कर सकते हैं। विवाहके प्रसंगमें पुरुष स्त्रीका एक हाथ पकड़ता है जिसके कारण उसे जिन्दगी भर स्त्रीका दास रहना पड़ता है। अब तो तुमने हमारे दोनों हाथ पकड़ लिए, अब मुझे क्या फिक्र है? योग्य उत्तर सुनकर साहब प्रसन्न हुआ और हुक्म दे दिया कि इसे राज्य दे दिया जाये।

उन्नतिशील पुरुषोंके योग्यायोग्यके अवगमकी प्राकृतिक कला— यह तो सुगम बात है कि व्यवहारमें किसको नमस्कार करें, किसको नमस्कार न करें? यह क्या सिखानेकी बात है? यह तो योग्य पुरुषोंके मोक्षमार्ग की धुनमें रहने वाले पुरुषोंके स्वयं ही कला जग जाती है। इस प्रकार इस गाथामें यह बताया गया है कि जो हीन चारित्र वाला हो उसमें घुल मिल मत जाना, नहीं तो अपना चरित्र खो दोगे। जो शुद्ध ज्ञानगुणसे अधिक है और वह गुणहीन साधुवोंके साथ वंदनादिक क्रियावोंमें प्रवृत्ति करता है तो वह किसी प्रकार प्रसंगवश मिथ्यात्वसे युक्त हो जाता है और केवल इतना ही नहीं कि वह मिथ्यात्वसे युक्त होता है किन्तु भ्रष्ट चारित्र वाला हो जाता है।

यदि कोई बहुश्रुत हो, विशेष ज्ञानी साधु हो उसके पास ज्ञानादि गुणोंकी वृद्धिके लिए स्वयं चारित्रमें अधिक हो तो भी वंदनादिक क्रियावों में लगें, उसमें दोष नहीं है। यदि चरित्रवान और अधिक गुणवान्, वंदना-दिकमें जो कि चरित्रमें कमजोर हैं ऐसे बहुज्ञानीकी वंदना इस ख्यालसे करें कि इनके विनय वंदनादिक करनेसे हमारी ख्याति बढ़ेगी, पूजा लाभ होगा। इस भावसे यदि तपस्वीजन वन्दना करते हैं तो वहां दोष ही है। कोई कहे कि यह तो तुम्हारी कल्पना है। जो ज्ञानगुणसे बढ़े चढ़े हैं ऐसे साधुवोंकी वंदनामें क्या दोष है? तो उत्तर दिया है कि यदि ज्ञानलाभके लिए वंदना करते हैं बड़े तपस्वी साधु बहुज्ञानी साधुकी, चाहे वह नव-दीक्षित ही क्यों न हो तो उसमें दोष नहीं है। किन्तु ख्याति, पूजा लाभकी

चाहसे ही वंदनादिक कार्योंमें लगते हैं तो दोष है; क्योंकि उसमें रागकी उत्पत्ति हो गई है। जितने भी आगम हैं, उपदेश हैं वे सब रागद्वेषके परिहारके लिए ही होते हैं।

आदरपूर्वक ही शिक्षाग्रहणसे दृष्टान्त— अभी आप ही लोग किसी छोटे आदमीसे कोई विद्या सीखें, मुनि भी सीखें, या कोई साइन्सकी बात सीखें और छोटे बिरादरी वालेसे सीखें, चाहे आप उसे कोई वेतन देते हों या कुछ न देते हों, पर उस सिखाने वाले छोटे आदमीका आदर करके ही सीखते हों या डाट करके सीखते हों ? क्या उसे ऐसी ऐंठ बनाते हों कि अबे तू बैठा है, सिखाता नहीं है ? यह तो एक लौकिक विद्याकी बात हुई। फिर तो जो मोक्षमार्गकी विद्या सीखना चाहते हैं, आत्मविद्या सीखना चाहते हैं वे पुरुष चरित्रमें और तपमें बहुत वृद्ध हों, पुराने हों, बढ़े चढ़े हों, किन्तु ज्ञानगुणकी वृद्धिके लिए नवदीक्षित बहुश्रुत साधुकी वंदनादिकमें लगते हों तो वहां शुद्ध प्रयोजन होनेसे दोष नहीं है। पर ज्ञान गुणकी वृद्धिके प्रयोजनके सिवाय अपनी ख्याति, प्रसिद्धिके भावसे करे तो वहां उसे दोष लगता है, क्योंकि बहुज्ञानियोंके पास समाजमें बहुतसे लोग आते हैं और उनके बीचमें पहुंचने पर हमारी ख्याति, पूजा लाभ वगैरह होगा या लोग कहेंगे कि देखो यह साधु कितना निरभिमानी है, कितना सरल है कि अपने छोटे साधुके पास भी विनयपूर्वक बैठता है। ऐसी किसी भी प्रकारकी कल्पनासे यदि वंदना करता है तपस्वी, तो उसके लिए दोष है।

अब असंयमीजनोंका संग, असंयतजनोंकी संगति सर्वथा प्रतिशोध के ही योग्य है इस बातको दिखाते हैं।

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसायो तवोधिगो चावि।
लोगिगजणसंसग्गं ण जहदि जदि संजदो ण हवदि ॥२६८॥

यदि कोई साधु ज्ञान संयम तपमें बड़ा चढ़ा है जिसने सिद्धान्त और जीवादिक पदार्थोंका यथार्थ निर्णय किया है, जो समितियोंका विधिपूर्वक सम्यक् पालन करता है, जो तपस्यामें बढ़े चढ़े हैं ऐसे भी साधु यदि चरित्रभ्रष्ट अज्ञान मुनियोंकी संगति नहीं छोड़ते हैं तो वे संयमी नहीं रह सकते। भ्रष्ट मुनियोंके संगमें रहकर भले साधु भी अपने गुणों का विनाश करते हैं।

उच्च उद्देश्यमें निरर्थक विकल्पोंका अनवसर— साधु पुरुष जो मोक्षमार्गी हैं उनके यह विकल्प न होता कि मैं खोटे लोगोंको अज्ञानीजनों को, भ्रष्ट पुरुषोंको, विपरीत बुद्धियोंको किस प्रकार सन्मार्गमें लाऊँ ?

यह विकल्प ऊँचे महापुरुषोंके नहीं होता। उनका लक्ष्य तो मुख्यतया आत्म-साधनाका रहता है और उस लक्ष्यकी वृत्ति रखते हुए सहज, सुगम यत्न से यदि जीवोंका भला होता है तो वह भला करता है। इसका कारण यह है कि परजीव अपने अधिकारमें नहीं हैं और जो पर अत्यन्त विपरीत वृत्ति वाले हैं उनको सुलटानेमें संक्लेश बहुत करना पड़ेगा। अपने आपमें बहुत विकल्प उठाना पड़ेगा। भला जो साधु इतना साहस रखता है कि शेरनी, स्यालनी, सर्प, बिच्छू, चींटी उनको काट रहे हों तो भी इतना विकल्प उन्हें पसंद नहीं है कि आध मिनट हाथमें दृष्टि उठाकर इन्हें हटा दूं और फिर आत्मसाधनमें लगूं, इतना भी जिनको विकल्प पसंद नहीं हैं, ऐसे साधुजन विपरीतवृत्ति वाले महाअज्ञानीजनोंको समझानेके लिए विकल्प बढ़ाएँ, चढ़ाएँ, करें ऐसी उनको फुरसत नहीं है।

शुभोपयोग और उसके शोधनका एक दृष्टान्त-- विष्णुकुमार मुनि इतने ऊंचे तपस्वी पुरुष थे और इतना काम कर गए कि सात सौ अकम्पनादिक मुनियोंकी रक्षा की और उनमें थोड़ा दोष लग गया। वामन शरीर धारण कर भिक्षा मांगने आए। उस समय वे मुनि कमण्डल पीछी तो लिए न थे। तीन पग जमीन उस ब्राह्मण देवताने मांगी और इतना बड़ा नटखट दिखाया। यदि ७०० मुनियोंकी रक्षा न करते और वे स्वाहा हो जाते तो समाजके लोगोंमें कितना विशाद होता? काम तो बहुत बड़ा किया, मगर उसके अपराधका पूर्ण प्रायश्चित लिया गया। ऐसे आत्मीय मुमुक्षु सत्पुरुष इसीमें अपना समय बरबाद कर दें कि जो मूढ़ बुद्धि हैं, जिनकी विपरीतवृत्ति है उनका दिमाग मनाकर, विकल्प मचाकर उन्हें सीधा करदें, इतनी फुरसत संतपुरुषोंको नहीं होती है।

लौकिक संगतिकी सर्वथा प्रतिषेध्यता— आत्मार्थी मुमुक्षु मोक्षमार्गी मुनियोंसे ऐसी विकल्पवृत्तिका कार्य नहीं होता। यह उन महामुनियोंकी बात कही जा रही है जो बड़े तत्त्वज्ञानी हैं। सारे विश्वको बताने वाले स्वरूपका, शब्दोंका और वाच्य अर्थका जिन्हें बहुत बोध है और उन वाच्य वाचकोंका, लक्ष्य लक्षणका जिन्हें यथार्थ सम्बन्ध और प्रतिपादनकी कुशलता प्राप्त है और इन पदार्थोंके निज आत्मतत्त्वका जिसके यथार्थ निश्चय है तथा आगममें जितना वर्णन है सूत्रोंके अर्थका उन सबका यथार्थ ज्ञान है ऐसे भी तत्त्वज्ञानी पुरुष हैं वे भी यदि लौकिक जनोंकी संगति करते हैं तो संयत नहीं कहलाते हैं। ऐसे महामुनि जिनका उपभोग निरुपराग है, उन्हें रागद्वेष नहीं उत्पन्न होता, समतापरिणाम बना होता है ना? इसी कारण कषायशांति होनेके कारण निष्कम्प उपयोग बनानेका जिन्होंने

महान् अभ्यास किया है, इसी कारण वे तपस्यामें बढ़े चढ़े हैं और इसी कारण वे महासंयमी हैं। फिर भी लौकिक असंयमीजनोंकी संगतिसे उनका संयम विनष्ट हो जाता है। खोटी संगति करना ठीक नहीं है। चाहे धन लाभ हो, इज्जत लाभ हो या किसी भी प्रकारकी सिद्धि होती हो तो भी असत् संग करना ठीक नहीं है।

ज्ञानियोंके किसी भी प्रकारमें हुए समागमकी हितकारिता— एक कहावतमें कहा करते हैं,है अशुद्ध वाक्य कि 'पंडितः शत्रु रपिवरं, न मूर्खो हितकारकः।' पंडित पुरुष यदि शत्रु है तो वह भी भला है। वह हमारे लिए बुरा नहीं है किन्तु कोई बड़ा मित्र है, बड़ा हित चाहता है, सेवामें निरंतर रहता है और यदि मूर्ख है तो वह भला नहीं है। मूर्ख मित्रके द्वारा मेरा कल्याण न होगा। मेरा कल्याण तो अपने आपकी भरी ही परिणतिसे होगा। मार्गदर्शनका निमित्त भी ज्ञानी पुरुष हो सकेगा। पंडित ज्ञानी विद्वान्का गुस्सा भी भलेके लिए हुआ करता है और कई लोग तो यह कहते हैं कि चूँकि रावणकी मृत्यु रामचन्द्रजी द्वारा हुई थी इसलिए रावण को मोक्ष हो गया। बड़े पुरुषोंके द्वारा मरना भी प्रशंसनीय माना गया है। ये महापुरुष मुझे गुस्सेकी भरी निगाहसे भी देखें तो देख लें, मैं अपनेको धन्य समझूंगा कि किसी प्रकार दृष्टि तो मुझ पर की है और ज्ञानी पुरुष यदि क्रोधकी निगाहसे किसीको देखें तो चूंकि सम्बन्ध तो बन गया, किसी तरहसे पर ज्ञानीका सम्बन्ध अन्तमें हितका ही करने वाला होगा।

मूर्खमित्र व पंडित शत्रुके व्यवहारका एक दृष्टान्त— एक कथानक है कि राजाने रात्रिको पहरेदारीके लिए एक शिक्षित बन्दरको नियुक्त किया। तलवारसे सजा हुआ वह बन्दर रात्रि भर पहरा देता था। एक दिन क्या हुआ कि राजा सो रहा था। एक मक्खी उसकी नाक पर आ कर बैठ गई तो उस बन्दरने मक्खीको नाकसे हटा दिया। मक्खीकी ऐसी आदत होती है कि जो जगह उसे पसन्द आए उसी जगह वह बार-बार बैठती है। सो वह बार-बार आकर उसी जगह नाक पर बैठे और बन्दर उड़ा दे। ५-७ बार इसी तरहसे मक्खी बैठ जाए और वह उड़ा दे। फिर वह मक्खी आकर बैठ गई। इसी घटनाके प्रसंगमें एक विद्वान् कवि पंडित जो कई दिनोंसे भूखा था,अर्थके अभावमें चोरी करने आ गया, उसी राजा के यहां और आहट पाकर वह उसी जगह छुप गया। वह तो छुपा था और उधर बन्दर उस मक्खीको उड़ाते-उड़ाते परेशान हो गया था। सो सोचा कि जिस जगह मक्खी बैठती है उस जगहको तलवारसे साफ कर दें तो फिर बार-बार मक्खीको उड़ानेके झंझटसे छुटकारा मिलेगा। सो

वह तलवारसे नाक उड़ाना ही चाहता था कि झट उठ चोरने बन्दरका हाथ पकड़ लिया। दोनोंमें कुछ घमासान युद्ध हुआ तो राजाकी नींद खुल गई। राजाने कुछ समाचार जाना तो वह सोचता है कि यह पंडित कवि आया था रात्रिको चुरानेके लिए, मगर मेरा रक्षक यह पंडित हुआ है और जिसे मैं हितकारी मानता था उस बन्दरसे तो आज मेरे प्राण चले जाते। पंडित शत्रु भी हो तब भी भला है, मूर्ख हितकारी भी हो तब भी बुरा है।

विनयशील मूर्खसे भी अहितकी संभावना— इसलिए जो ज्ञान, श्रद्धा, चरित्र सभीमें शिथिल है, ऐसा मूर्ख साधु चाहे वह बड़ी विनय करता हो, बहुत बड़ा मानता हो तो भी उसकी संगति करना तो अहितके लिए ही होता है। जो विनयशील शिष्य होता है वह ज्ञानियोंके द्वारा, गुरुवोंके द्वारा सैकड़ों बार फटकारे जाने पर भी वह अपना कर्तव्य एक आज्ञा पालनका ही समझता है और अन्तमें ऐसे विनयशील पुरुषोंकी प्रगति हुआ करती ही है। तो संगति हमेशा ऊंचेकी करनी चाहिए। चाहे उसमें कष्ट भी आवें, चाहे वहां विषयसाधनोंकी पूर्ति न हो, मगर सत्संग स्वयं एक महान पद है। जो शुद्ध तत्त्वज्ञानसे भी बढ़ा-चढ़ा है और चरित्र में भी महान् है, लेकिन जो असत् साधुवोंकी संगति करता है तो वह संयमी नहीं होता है।

महापुरुषोंके वाक्योंमें अपूर्व मर्म— इस गाथामें शब्द इस प्रकारसे कुन्दकुन्द प्रभुने रखे हैं कि जिसके कारण कार्यकारणका सम्बन्ध चलता जाता है, इसमें चार बातें कही हैं। पहिली तो सूत्रार्थोंका महाज्ञानी होना, दूसरी बात कषायको शांत करना, तीसरी बात तपस्यामें बढ़े चढ़े होना और चौथी बात महान् संयमी— श्रमण होना। इन चारों बातोंमें पहिली बात कारण है तो इसके निकटकी दूसरी बात फलित कार्य है। जो साधु तत्त्वज्ञानी होगा तो तत्त्वज्ञानके कारण उसका कषायशील होगा, जो श्रमण शांतकषाय होगा उसकी तपस्या भी बढ़ी चढ़ी होगी। तपस्या उसकी ही तपस्या है जो शांत है और तत्त्वज्ञानी है। ज्ञान न हो तो तपस्यासे प्रयोजन क्या? कषाय शांत न हों तो उस तपस्याका अर्थ क्या? और जब तपस्यामें अधिक बढ़ गए तो वह महा श्रमण कहलाता है।

तप्तजलवत् लौकिक संग— ऐसे महाश्रमण भी यदि चरित्रभ्रष्ट अज्ञानी, लौकिक, यहां वहांके नटखटोंमें रुचि रखने वाले साधुजनोंकी की संगति करते हैं तो वे संयमी नहीं रह सकते। जैसे जल तो ठंडा होता है ना? और उस जलको अग्निका संग मिल जाय तो वह विकृत हो जाता है, अपने ठंडे स्वभावको तिरोहित कर देता है। फिर उसे कोई

प्रयोगमें नहीं लाता, कोई नहीं पीता। इसी प्रकार वह महाश्रमण ज्ञान और आनन्दका निधान है लेकिन लौकिक साधुओंकी संगति कर ले तो वह असंयत ही हो जाता है। इस कारण लौकिक संगमें वह चरित्रभ्रष्ट हो जाता है। अतः लौकिक अज्ञानी चरित्रभ्रष्ट साधुवोंकी संगति सर्वथा त्याज्य है।

श्रावकोंको सद्गोष्ठीकी आवश्यकता— कहते हैं कि श्रावकोंकी चर्यामें आजकलके हिसाबसे और तो सारी बातें निभ जाती हैं, पूजाके समय पूजा करते, स्वाध्यायकी प्रतिज्ञा निभानेको थोड़ा स्वाध्याय भी करते, संस्था भी चलाते, दान करते, सब बातें सराहनीय हैं, सब काम चलता रहता है पर अपनी सत्संगति बने और नव प्रगति करें—इस बातकी ओर बहुत कम ध्यान है। हालांकि भले श्रावकोंसे सत्संगतिका वातावरण सहज बहुत कुछ मिल जाता है किन्तु जैसे व्यापार आदिके प्रोग्राम रखते हैं वैसे श्रावकोंके पास सत्संगति वृद्धिकी सूची प्रोग्राममें नहीं लिखी जाती है। कितना समय आजीविकामें लगा लोगे इन २४ घंटोंमें? रातदिन रोजिगार करनेसे तो काम नहीं चल सकता। दिनमें भी यदि समयका कन्ट्रोल नहीं है तो सूर्य निकलनेसे लेकर १० बजे रात्रि तक रोजिगारमें ही फंसे रह सकते हो। जबसे सरकारने नियम बना दिया कि दिनके ६ बजेसे रात्रिके ८ बजे तक दुकान खोल सकते हो। तो जितना काम आपके १५ घंटे दुकानमें बैठनेसे होता था उतना ही काम आपके इन ११ घंटोंमें हो रहा है। और कभी यह नियम सरकार बनादे कि १० बजे से ८ बजे रात्रि तक ही दुकान खोलो तो उतना ही काम आपके इन दस घंटोंमें होगा। फर्क कुछ भी नहीं पड़ता।

दृढतासहित नियमकी सफलता— आप कहेंगे कि यह नियम सरकार बनाए तो निभता है पर खुदके बनाए तो नहीं निभता। भाई यह खुद सरकारसे भी बड़ा है। यदि यह खुद अपनी सच्चाई, अपनी ईमानदारी अपने सद्व्यवहार पूर्वक अपनी आजीविका करता है तो यह दो घंटेको भी यदि अपनी दुकानपर कन्ट्रोल करके बैठ जाये कि मैं तो १० बजे से १२ बजे तक ही दुकान खोलूँगा तो उतना ही काम और उससे भी अधिक काम उसका दो घंटेमें हो सकता है। पर इसके लिए तो बड़ा साहस चाहिए बहुत बड़ी कुर्बानी चाहिए। स्वार्थकी बलि पहिले करना होगी। तब जाकर लोकमें आपपर श्रद्धा आस्था इतना बड़ा परिचय आपका लोगोंसे हो कि आप केवल २ घंटेमें ही सब काम कर लेंगे।

सत्यपर अडिग श्रावकोंका अब भी सद्भाव— ऐसे व्यक्ति आज भी

हैं जो दुकान पर २-३ घंटे ही बैठते हैं, बादमें दुकानमें ताला लगा देते हैं। डबरा वाले एक भाई फूलचन्द परवार हैं, उनका यह नियम है कि जब कपड़ा ५००) का बिक जाये तो दुकानको बंद करके मंदिरमें आजायेंगे। सो दुकान खोलनेसे पहिले आठ दस ग्राहक बैठे रहते हैं दुकान पर और अपना एक डेढ़ घंटेका समय बरबाद करते हैं। पहिलेसे ग्राहक आ जाते हैं ताकि ५००) का यदि बिक गया तो उन्हें आज भी खाली जाना पड़ेगा। उनके प्रति लोगोंकी श्रद्धा है कि यह सत्यपुरुष हैं, इनसे मुझे हानि नहीं होगी, ये मुझे ठग नहीं लेंगे। अब भी ऐसे कई जगह सत्यपर अडिग गृहस्थ देखे गये हैं। इस श्रद्धाके कारण चंद घंटोंमें ही उनका काम बन जाना है।

सत्संगतिकी उपयोगिता— तो गृहस्थजनोंको सत्संगतिके प्रोग्रामको भी अर्चना देना चाहिए। दो तीन घंटे एक गोष्ठीमें बैठ गए खाली टाइम में और मुख्यतया तो अब सुविधाजनक समय ८ बजे के बाद दो घंटा पड़ा हुआ है। एकत्रित होकर बैठो, शास्त्रसभा हो, धर्मचर्चा हो, संख्या कम हो वह भी भली बात है, मगर हों चुने पुरुष अर्थात् सज्जनपुरुष, हिताभिलाषी पुरुष, संसारसे विरक्त पुरुष और इस प्रकार धर्मध्यानमें समय व्यतीत हो जाय तो उसकी निर्मलताकी प्रगति होगी। असत् पुरुषोंके संग का सर्वथा त्याग करना चाहिए। किसी कारणसे कुछ-कुछ तो उनके साथ रह लिया जाय, ऐसी भी गुन्जाइश नहीं रखनी चाहिए।

संतोंके संगमें अहितकी असंभावना— हमारे सामने की घटना है कि गुरु जी ने एक काछी शुद्धभोजी विद्यार्थी पर समाजके कहे जाने पर कि यह चौकेमें ही आ जाता है उसकी और-और बातें कहीं तो बड़ा तेज गुस्सा किया गुरु जी ने उस काछी पर और उस गुस्से करनेका फल मिला मीठा उस काछीको। दो तीन दिन बादमें समाजसे महाराजने यह व्यवस्था बनवा दी कि २५-३० रुपया महीना बांध दिया और उसे पढ़ानेके लिए अध्यापकोंकी ड्यूटी लगा दी कि तुम इसको पढ़ावो। यदि क्रोध न किया जाता तो उस काछी को इतना लाभ न मिलता। चिरोंजाबाई जी के यहां उनकी ननद ललिता बुवा रहती थीं। उनसे बाई जी ने कह रखा था कि जो भी कागजका टुकड़ा नीचे गिरे, उसे उठाकर आलमारीमें रख दिया करो, कूड़ेमें न डाला करो। एक दिन एक कागज नीचे पड़ा था। देखा बाई जी ने कि एक कागजका टुकड़ा पड़ा है जिसमें भक्तामरका एक काव्य था। बड़ा गुस्सा आया, ललिताको कुछ भी नहीं कहा, चोटा पकड़ लिया। स्त्रियोंका चोटा तो बड़ा होता है। सो चोटा पकड़कर भींतमें

मारा तो कैसे मारा कि बाईजीने एक हाथ भींटमें लगा लिया और एक हाथसे सिर मार दिया। अब यह बतलावो कि ललिताको चोट आई या बाईजीको चोट आई। तो क्रोध भी आए तो हितमें गुञ्जाइश रहती है। संतोंका संग सेवतीय है।

अब लौकिक साधुवोंका लक्षण बतला रहे हैं। जिनकी संगति करना योग्य नहीं है, ऐसे लौकिक साधु किस प्रकारके होते हैं? यह वर्णन अगली गाथामें आ रहा है।

णिग्गंथं पव्वइदो वहदि जदि एहिगेहिं कम्मेहिं।
सो लोगिगोदि भणिदो संजमतवसंपजुत्तोहिं ॥२६६॥

लौकिक साधु—जिन्होंने निर्ग्रन्थ अवस्थाकी परम दीक्षाकी प्रतिज्ञा ली है और संयमका, तपस्याका भी भार ग्रहण किया है, फिर भी मोह का बाहुल्य होनेसे शुद्ध चैतन्यस्वरूपका व्यवहार शिथिल हो जानेके कारण मैं मनुष्य हूं, मैं साधु हूं—इस प्रकारका व्यवहार करके उसही अभिमानमें घूमनेके कारण ऐहिक कर्मोंको जो नहीं छोड़ता है, वह लौकिक साधु कहलाता है।

साधुकी साधुता—साधुकी साधुता तो उपयोगमें होती है। जो साधु अपने आपमें शुद्ध चैतन्यस्वरूपका अनुभव करता है, वह साधु है, मोक्षमार्गी है। मिट जाने वाली इस मनुष्यपर्यायमें जो अहंबुद्धि रखता है, चाहे वह साधु हो अथवा गृहस्थ, जो अपनी श्रद्धामें यह बात रखता है कि मैं अमुक जातिका हूं, मैं इतनी दूकान, मिल, कम्पनी वाला हूं, मैं ऐसी पोजीशन वाला हूं, मुझे बहुत विचार कर चलना चाहिए इत्यादि रूपसे जो भी अपनी बुद्धि बनाता है, वह मोक्षमार्गी नहीं है। मिट जाने वाली पर्यायमें आत्मबुद्धि करना तो ऋषिसंतोंने विवेक नहीं बताया है। यह शरीर खाक हो जायेगा, राखमें मिल जायेगा, यह अकेला फिर आगे जायेगा। जैसी परिणतिकी, जैसा भाव बनाया उसके अनुसार ही फिर वह शरीर पायेगा। इस अपवित्र विनाशीक दुःखोंके कारणभूत शरीरमें क्या आत्मीयता करना, पर यह मोहका ऐसा प्रबल नृत्य चल रहा है कि यह जीव शरीरसे न्यारा ज्ञानमात्र अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि ही नहीं कर सकता।

मूल बिना वृक्ष कैसा—देखो किसी समय किसी प्रसंगमें वैराग्यमें आकर या किसी वातावरणमें आकर प्रतिज्ञा तो की थी कि समतामें अपना परिणमन रखूंगा, ज्ञाताद्रष्टा रहूंगा, अपने सहज ज्ञानस्वरूपकी उपासनामें रत रहूंगा। कहां तो ऐसे पदकी प्रतिज्ञा की थी, चाहे इस पदके

स्वरूपको जानकर प्रतिज्ञा की हो और चाहे न जानकर व्यवहारके नाते साधु होना अच्छा है, इसमें ही कल्याण है ऐसे भावोंसे प्रतिज्ञा की हो पर ग्रहण तो किया निर्ग्रन्थपना ना ? और बड़े-बड़े संयमोंका भार भी ग्रहण किया। मैं साधु हूं, मुझे तपस्या करनी चाहिए, ऊंचा तप करना चाहिए। जितना बड़ा मैं तप करूंगा उतना ही मेरा कल्याण है। सो बहुत बड़े-बड़े ग्रीष्मकालमें तपना, ठंडमें नदीके किनारे बैठनेका साहस कर रहा है पर वाह रे मोह जरासी गुत्थी न सुलझा सकनेके कारण इतने बड़े संयम और तपमें रंच भी मोक्षमार्ग नहीं है।

अङ्क बिना बिन्दियोंका मूल्य क्या— जैसे एक अंकके बिना बिन्दियों की क्या कीमत है ? सौ बिन्दी रख दो, हजार बिन्दी रख दो, पर उनके मूलमें कोई अंक नहीं है तो कोई उन बिन्दियोंकी कीमत नहीं है। इसी प्रकार धर्मके प्रोग्रामके नाते बड़े तप, संयम, त्याग आदि सारी बातें कर ली जायें किन्तु एक सहजस्वभावकी दृष्टि न हो पाये तो वह सब मोक्ष-मार्गके लिए रंच भी सहायक नहीं हैं। यह तत्त्वज्ञान कहीं बहुत विद्याएँ रटनेसे नहीं होता, बहुत ग्रन्थ पढ़नेसे भी नहीं होता। पशुपक्षी कहां अ आ और ए. बी. सी. डी. जानते हैं। वे किसी दूसरेके कहे हुए शब्दोंको व उनके अर्थोंको भी नहीं पहिचानते हैं किन्तु मन है, ज्ञान है, विवेक जग जाये और सहज शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें अपना विश्वास कर लिया जाये तो वे बैल, घोड़े मोक्षमार्गी हैं पर जिसे अपने सहजस्वरूपका परिचय न हो तो बड़ी बड़ी तपस्यावोंमें रहकर भी यह पुरुष मोक्षमार्गी नहीं है।

सुगम हितमार्गपर न चल सकनेका खेद— यहां कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसारकी अन्तिम गाथावोंके प्रकरणमें कितने फोर्सके साथ यह बात बतला रहे हैं कि हे साधुजनों ! सब कुछ संयम, व्रतका भार ले लिया पर यदि अपने शुद्ध चैतन्यव्यवहारको छोड़ दोगे, मैं तो केवल अमूर्त चैतन्य मात्र सत् हूं, यह याद यदि भुला दोगे तो समझ लो कि कुछ पता नहीं पड़ने का। सब कष्ट व्यर्थमें ही हो गये। संकटोंसे छूटनेका उपाय कितना सुगम है ? कुछ श्रम नहीं करना है, भाग दौड़ नहीं करना है, कुछ रटंत भी नहीं करना है किन्तु अपने आपके इस सहजस्वरूपका परिचय भर पाना है। यदि इस आत्मतत्त्वका परिचय मिल गया तब समझो कि बस जो करना था सब कर लिया।

परकी आशा व्यर्थ, अनर्थ— भैया ! इस मोही जीवको परिचय भी मिलता है तो अभी मुझे करनेको अनन्त काम पड़े हैं, ऐसा परिचय मिलता है। कर कुछ नहीं सकता। हां अनन्त भ्रमण करता रहे, जन्म

मरण पाता रहे, नाना प्रकारके विकल्प करता रहे। ये अनन्त काम जरूर मिले हैं इसे करनेको। हे आत्मन्! अपने आपके उस चिदानन्द भगवान्की ओर तो आवो। कुछ हिम्मत तो बनावो। एक ही बारमें सारे कुटुम्ब वैभवको एकदम भूल जावो। उनसे कुछ हित न होगा, वे तुम्हारी परिणति सुधार न देंगे और यदि ऐसी करुणा जगी हो कि हमारे धर्म काममें तो यह बड़ा सहायक हो रहा है, समय पर शुद्ध भोजन बना देता है, समय पर पूजामें जानेके लिए तैयारी करा देता है, नहानेका पानी वगैरह भर देता है और धोती वगैरह भी फांचनेको नहीं रखता। यह तो मेरे धर्मके काममें बड़ा सहायक है। हां तुम्हारी कल्पनामें हो भी सहायक, चाहे परमेष्ठियोंसे भी बढ़कर सहायक हो, पर हमें नहीं मालूम देता। भैया! मेरी समझसे तो धर्म कहलाता है आत्माके सहज स्वरूपका दर्शन। ज्ञानमात्र अपना अनुभव करना परमधर्म है, यही परम तप है। अपने उपयोगको केवल ज्ञानमात्र स्वरूपमें रखो ऐसी वृत्तिमें जो चेतनका प्रयत्न होता है वह परमतप है।

अलोक्यके आलोकन विना लोकोंकी लौकिकता— चिद्वृत्तिके विना धर्मके अनेक श्रम कर लिए जायें तो भी उनसे धर्मकी गाड़ी एक इन्च भी नहीं सरकती। तो जिन साधुवोंने निर्ग्रन्थ दीक्षाकी प्रतिज्ञा ली है और संयम, तपस्याका भार भी लादा है किन्तु पर्यायोंसे हो गया मोह तो वह साधु नहीं है क्योंकि उसके मिथ्यात्व आ गया। अरे, कहां वह साधु है, वह तो आकाशवत् अमूर्त ज्ञानमात्र चैतन्य सत् है कि वह साधु है? सम्यक्त्वकी दशा गृहस्थ और साधु दोनोंके एक प्रकारकी होती है। गृहस्थ यदि यह सोचे कि मैं गृहस्थ हूं—ऐसी श्रद्धा यदि अन्तरमें आ जाये तो यह भी मिथ्यादृष्टि है। कहां है यह गृहस्थ? जगत्के समस्त चेतनसे न्यारा, समस्त अचेतनोंसे न्यारा आकाशवत् निर्लेप चैतन्यमात्र यह एक सत् है, प्रभु है यह कहां है गृहस्थ? जो पर्यायका मोह करके अपने शुद्ध चैतन्यके व्यवहारसे पृथक् हो जाता है और इस कारण बार-बार जिसके मनुष्यका व्यवहार लगता है तो वह मनुष्यके व्यवहारसे, अभिमानसे व्याघूर्ण होनेके कारण लौकिक पुरुष ही है।

व्याघूर्णना— जैसे कोई तेज नशा करले तो वह हिलता डुलता है और हंसनेकी और प्रसन्नताकी कितनी ही बक-बक बातें बकता है, इसी प्रकार यह अज्ञानी साधु असमानजातीय पर्यायके मोहके कारण नाना बक-बक कर रहा है। वह गृहस्थ हो कि साधु हो कि आचार्य हो? ये लोग यह क्यों नहीं करते? मुझे यों करना है। हां, ये सब लोग पूजा कर रहे हैं,

मुझे पूजा करानी ही चाहिए क्योंकि मैं साधु हूं। कितना दूर रहा है यह साधु, मनुष्यके व्यवहारमें कितना रत हो रहा है। मनुष्य ही तो साधु है। आत्मा तो चैतन्यमात्र है। इस प्रकार गृहस्थ भी मैं ऐसे परिवार वाला हूं और धर्मात्मा कुलका हूं, हम पहिलेसे धर्म करते आए हैं। अब अमुक कार्य करवाये, मंदिरकी पूजा नित्य करें, स्वाध्याय करें, दान दें, इस संस्थाका क्या हाल हुआ? करते जावो, ठीक है, करना पड़ता है किन्तु अन्तरमें यह श्रद्धा हो कि मैं गृहस्थ हूं और मैं ऐसे पोजीशनका हूं और मेरे को यह काम करना चाहिए ऐसी श्रद्धाकी प्रेरणा मिलती हो वही मिथ्यात्व है।

साधुवोंकी लौकिकताका वर्णन— ये रागादिक ज्ञानके सुगम उपाय से मिट जाते हैं। जहां यह भावना न रहे कि मैं तो सबसे न्यारा एक चैतन्यसत् हूं, घरमें रहता हुआ भी घररूप नहीं हूं, गृहस्थ नहीं हूं, अमुक कुलका नहीं हूं, अमुक जातिका नहीं हूं, अमुक वातावरण का नहीं हूं। यह तो मैं सब जीवोंकी भांति एक चैतन्यस्वभावमय पदार्थ हूं, भीतरमें यह श्रद्धा हो, भावना हो तो उसका मोक्षमार्ग फलित होता है। यहां लौकिक साधुका स्वरूप बतला रहे हैं कि जिनकी संगति अच्छे साधुको न करनी चाहिए। यह साधु वस्त्रादिक परिग्रहसे रहित हो गया, निर्ग्रन्थ बन गया, दीक्षा तो लिया फिर भी ख्याति पूजा लाभके निमित्त ज्योतिष मंत्रादिक कर्मोंके द्वारा इस लोकके जीवनके उपायके कर्मके द्वारा जो कि रत्नत्रयका विनाश करने वाला है उन प्रवृत्तियोंसे यदि रहता है इसमें ही मौज मानता है, लौकिक काम करते हैं, इसमें ही मौज मानता है तो वह लौकिक व्यावहारिक साधु है।

लौकिक और अलौकिक वृत्तियां— साधुवों और असाधुवोंकी दो वृत्तियां होती हैं। साधुके होती हैं अलौकिक वृत्तियां और असाधुके होती हैं लौकिक वृत्तियां। जिस बातमें संसारी जन जग रहे हैं उस बातमें साधुजन सो रहे हैं। जिस बातमें संसारीजन सो रहे हैं उस बातमें साधुजन जगा करते हैं। संसारीजन बाह्यपदार्थोंमें झुका करते हैं तो ये साधु महाराज आत्माके शुद्ध स्वभावकी ओर झुका करते हैं। संसारीजन बड़े संग संगमोंमें खुश रहा करते हैं और साधुजन निःसंग एकान्त अवस्थामें खुश रहा करते हैं। साधुवोंकी और संसारी जनोंकी परस्परमें उल्टी चाल है।

गृहस्थसे साधुकी विपरीत वृत्तिका चित्तरंजक एक उदाहरण— एक कथानक है कि एक संन्यासीके पास राजा आ रहा था तो संन्यासीने शिष्यसे कहा कि देखो यह राजा आ रहा है, अपने से यह प्रसन्न हो जायेगा, तो पब्लिकका तांता लग जायेगा। इसलिए ऐसी घटना तैयार करो

कि यह राजा अपने से घृणा करके चला जाय ताकि अपने एकान्तस्थान में कुछ बाधा न आए। जब यह आ जाय तो रोटियोंकी बात करके अपन लड़ने लगेंगे। कुछ ऐसे भी संन्यासी होते हैं जो बाहरसे रोटियां मांग लाते हैं और अपने घर पर ही खाते हैं। राजा आया तो गुरु शिष्यसे कहता है कि अरे आज तूने मुझे दो ही रोटियां दीं। कहा हां महाराज। शिष्यसे कहा गुरुने कि तूने कितनी रोटियां खाईं ? बोला महाराज, डेढ दर्जन। क्यों ? अरे कल तुमने भी तो दो दर्जन खाई थीं और हमने केवल दो रोटियां ही खाई थीं। राजा कहता है अरे ये काहेके साधु हैं, ये तो भोजनभट्ट हैं। मुँह मोड़कर राजा चला गया। अब साधु शिष्यकी पीठ ठोककर कहता है कि लो विजय पा लिया, नहीं तो बुरा फंदा पड़ा था। ऐसी घटना कोई गृहस्थजन करेंगे क्या ? हालांकि यह निर्ग्रन्थ साधुकी बात नहीं है, किन्तु एक साधुताके नाते एक परिणतिका दिग्दर्शन तो है कि चाहे दुनियां मुझे बुरा समझ ले पर अपने आपमें अच्छे और सुरक्षित रह सकें तो मैं अच्छा हूं और अपने उन्नति पथ पर हूं। संसारीजन और साधु पुरुषोंमें परस्परमें उल्टी चाल रहा करती है।

साधुकी लौकिक वृत्तिसे सबका अनर्थ— कोई साधु होकर मनुष्यत्व का व्यवहार रक्खे और उस मनुष्यत्वके व्यवहारके गर्वमें घूमकर भक्तोंसे, पूजकोंमें घुल मिलकर बातें कर, हँसकर आनन्दसे मस्त होकर वहीं मौज लूटकर गंडा टोटका ज्योतिष मंत्र आदिक प्रदान कर, ख्याति पूजाका स्वप्न देखकर, मौज मानकर रहे तो वह साधु लौकिक है। लौकिक कहो, मिथ्यादृष्टि कहो, भ्रष्ट कहो सबके एक अर्थ हैं। ऐसे लौकिक पुरुषोंका संग करने से साधु भी उनमें घुलने मिलने लगे तो वह भी नष्ट हो जाता है। ऐसे लौकिक साधुवोंके भक्त भी दुर्गति प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार लौकिक साधुवोंका लक्षण बताकर अब यह बतला रहे हैं कि करने योग्य संग तो सज्जनोंका ही है। सत्संग नियमसे करना चाहिए। उससे लाभ होता है इसका वर्णन करते हैं।

तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहि वा अहियं।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं ॥२७०॥

इस कारण हे मुमुक्षु जनो ! यदि दुःखोंसे छूटना चाहते हो तो ऐसे पुरुषोंका संग करो जो या तो अपने गुणोंके बराबरके हों या अपने गुणों से अधिक हों। ऐसे गुणी पुरुषोंके साथ ही हम निवास करें।

गुणहीनोंकी संगतिका निषेध— जो गुणोंसे हीन हैं, संसारी हैं, भोगोंमें आसक्त हैं, लौकिक प्रवृत्तियोंसे ही अपना जीवन व्यतीत करते

हैं ऐसे पुरुषोंके संगसे यह संयत भी असंयत हो जाता है। आखिर परिणमनका स्वभाव तो पड़ा ही है इस जीवमें। अच्छी बात देखेगा तो अच्छा परिणमन होगा और बुरी बात देखेगा तो बुरा परिणमन होगा। जैसी दृष्टि करे तैसी ही सृष्टि होगी। अपने भले के लिए सर्वत्र गुणोंकी दृष्टि करनी चाहिए। कोई मेरा साथी नहीं है। किस-किसकी आलोचना, प्रत्यालोचना झगड़ा फसाद करना है ? मेरा तो केवल मेरे से ही नाता है। मेरा पूरा तो मेरे से ही पड़ेगा। साधुसंत पुरुष हम आप जैसे पामरों पर करुणा करके बड़े ऊँचे-ऊँचे ज्ञान और वैराग्यके उपदेश दे गए हैं। पर वे मेरा क्या करेंगे ? उसही ढंगसे रहूंगा तो उन उपदेशोंका निमित्त पाकर मैं अपना जीवन सफल करूँगा पर इस पर दृष्टि कहां ?

संगतिका परिणाम-- भैया ! यहां तो अपनी हठ है कि मोह ही करेंगे, अज्ञानमें ही बसेंगे। उन साधु परमेष्ठियोंके उपकार और श्रमका कुछ फल ही न लूट सकेंगे। यह आत्मा किसी न किसी परिणामके रूपमें परिणमनके स्वभाव वाला है, परिणमेगा। यदि लौकिक पुरुषों का संग मिल गया तो यह असंयत बन जायेगा या अपने गुणोंसे अधिक गुण वाले का संग मिल गया तो अपना उद्धार हो जायेगा। जैसे जलमें तो परिणमन का स्वभाव है। ठंडा परिणमें, गर्म परिणमें। यदि किसी ज्यादा ठंडी चीजकी संगति हो जाय तो वह पानी भी वैसा ही ठंडा हो जायेगा और अग्निकी संगति मिल जाय तो वह वैसा ही गरम हो जायेगा। तो उस जल में परिणमनका स्वभाव है। वह जल परिणम जायेगा अपनी योग्यताके कारण संगतिमें आए हुए निमित्तके अनुकूल। इसी प्रकार यह साधु पुरुष भी तो आत्मा है और वही क्या सभी आत्मावोंका निरंतर परिणमनेका स्वभाव है वह परिणमता रहेगा। और यदि इस साधुको अपने गुणोंसे हीन पुरुषकी संगति मिलती है, लौकिक कार्योंमें आसक्त, अपने शरीरके खुदगर्ज, आलसी, अपने ही विषयोंकी पूर्तिका मतलब रखने वाले जनों की संगति मिलती है तो यह साधु भी भ्रष्ट नष्ट हो जाता है और इसको अपने गुणोंके बराबर वाले सत्पुरुषकी संगति मिलती है तो अपने गुणोंको बराबर कायम बनाए रहेगा। और यदि गुणोंमें अधिक ज्ञानी साधुसंतों का समागम मिलता है तो यह भी गुणाधिक बन जाता है।

उत्तम संगतिसे उन्नतिका अवसर— इस कारण दुःखोंसे छूटनेकी इच्छा करने वाले साधु पुरुषकी संगति करना चाहिए। अपने बराबर वाले की या अपने गुणोंसे अधिक गुणवान् श्रमणकी। ऐसे ही गुणवान पुरुषोंमें नित्य अधिवास करना चाहिए। फूलकी संगति पाकर कीड़ा भी सज्जन

पुरुषोंके सिर पर चढ़ जाता है। फूलमें कीड़े होते हैं ना छोटे-छोटे ? फूलों की माला बनाई जाती है तो वह बड़े पुरुषोंको पहिनाई जाती है। तो यह विचार करो कि कीड़ा क्या बड़े पुरुषोंके सिर पर चढ़नेके काबिल था ? और चढ़ने वाला होता तो उसे बुरी तरहसे अलग कर दिया जाता। पर पुरुषोंकी संगति पाकर वह कीड़ा भी सज्जन पुरुषोंके सिर पर चढ़ जाता है। इसी तरह कोई पुरुष अपने गुणोंके बराबर वाले कोई पुरुषके अथवा अपने गुणोंसे अधिक पुरुषकी संगति पाकर यह भी उन्नतिके शिखर पर चढ़ सकता है। यदि बराबर वाले पुरुषकी संगति होगी तो जो गुण हैं उनकी रक्षा तो बनी रहेगी। हीनगुण वाले पुरुषोंकी संगति है तो हीनता ही आ जाती है।

उच्च विचारोंका नाम उद्धार— देशमें सबको बराबर माननेका जो आन्दोलन चला और सबने बराबर मानने का यत्न रखा, ओछे पुरुषों के साथ भोजन भी करना, सभी बातें रखीं किन्तु वहां यह भूल गए कि हमें ओछे पुरुषोंके विचारोंसे ऊँचा और उदार बनकर इनका संग करना चाहिए। बजाए इसके क्या हो गया कि उनको उदार और ऊँचा बनानेका तो ध्येय छूट गया और लोकव्यवहारके नाते चूँकि समान हमें बनना चाहिए सो अपने को ही ओछोंकी तरह ढालकर समताका व्यवहार हो गया। सो आज जो देशकी नैतिक दशा है सो देख ही रहे होंगे कि सच्ची बातके लिए भी कोई सुनवाई नहीं है। रात दिन संकटोंका भय बना रहता है। यह कष्ट अपने आचारको शिथिल करने का परिणाम है। गुणहीन की संगतिसे तो गुणोंका नाश ही होना है। तो या तो बराबरीके गुण वालों का संग करो या अपने से अधिक गुण वालोंका संग करो।

विविध संगति व उसका परिणाम— यह प्रकरण चल रहा है कि जो गुणोंमें समान हों या तो इसकी संगति करें या जो गुणोंसे अधिक हों उसकी संगति करें। जैसे कोई ठंडा घर हो और उसमें कोनेमें रखा हुआ जल हो तो वह बराबर ठंडा हो जाता है। जितना ठंडा घर है उतना ही ठंडा यह पानी हो जाता है। यह तो दृष्टान्त दिया है इसका कि जो समान गुणों वाले हैं उनकी संगति करनेसे गुणोंकी रक्षा होती है और कहीं अत्यन्त शीत बर्फसे मिला शीतल जल हो तो वह अधिक शीतल हो जाता है, बर्फ मिला दें तो वह पानी अधिक ठंडा हो जाता है, कारण कि उस पानीसे भी अधिक दर्जेके ठंड वाली वह बर्फ है जिसकी संगति पानीने की है। वह पानी अधिक ठंडा हो जायगा और बराबरमें ठंड वाला कोई पदार्थ हो तो वह भी बराबर का ठंडा हो जाता है। इसी प्रकार जो साधु

गुणोंके बराबर है उसकी संगति करनेसे तो गुणोंकी रक्षा होती है और जो पुरुष गुणोंमें बड़े है ऐसे बड़े पुरुषोंकी संगति करनेसे गुणोंमें वृद्धि होती है। तीसरी संगति है निष्कृष्ट याने गुणहीनोंकी संगति। गुणहीनों की संगतिसे गुणका विनाश होता है। अतः हे कल्याणार्थियों! या तो गुण-समकी संगति करो या गुणाधिककी संगति करो।

इस प्रकरणसे प्राप्तव्य शिक्षः— इस प्रकार शुभोपयोगसे उत्पन्न हुआ किसी प्रवृत्तिका यह साधु भली प्रकार निश्चय करके और संयमको बड़े योगपूर्वक निभाते हुए, उनका उल्लंघन करते हुए क्रमसे साधु निवृत्ति का अनुभव करता है अर्थात् कोई जीव चाहे कि अशुभोपयोगके बाद शुद्धोपयोग हो जाये तो ऐसा किसीको नहीं होता। श्रमण शुद्धोपयोगकी प्राप्तिका इच्छुक है। वह पहिले शुभोपयोगजनित प्रवृत्तिको अच्छी तरह से निभाता है। फिर बादमें शुभोपयोगकी प्रवृत्तिका अच्छी प्रकार उल्लंघन करके सफल निवृत्तिमें आता है। सो पहिले तो शुभोपयोगसे उत्पन्न हुई प्रवृत्तिको स्वीकार करना चाहिए। शुभोपयोग हेय है ऐसा जानकर उसे छोड़ नहीं देना चाहिए। करोगे क्या? जो जीव शुद्धतत्त्वका अभिलाषी है और उसके राग आ गया तो रागके उदयमें वह करेगा क्या? शुभकी जगह ही तो रागको पटकेगा। विषयकषायोंमें अपना राग लगा दे क्या? नहीं। पीछे क्रमसे संयमकी उत्कृष्टता करके परम दशाको धारण करेगा। तो हे भव्य जीव! समस्त वस्तुवोंमें प्रकाश करने वाले केवल ज्ञान आनन्द-मय अविनाशी अवस्थाको सर्व तरहसे प्राप्त करके अपने अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करो।

शुभोपयोग प्रवृत्ति व शुद्धोपयोगोन्मुखताका झूला— भैया! पहिले चारित्राधिकारमें उत्सर्गका वर्णन था। पश्चात् अपवादका वर्णन आया, फिर उत्सर्गका, फिर अपवादका वर्णन आया। यह बार-बार उलट फेर कर के जो वर्णन चल रहा है इसका निष्कर्ष यह है कि जीवका परम लक्ष्य तो होना चाहिए शुद्ध तत्त्वका और उस लक्ष्यमें जब नहीं निष्णात हो सकते है तब शुभोपयोगकी प्रवृत्ति होती है। सो उसको और अपने शुद्ध लक्ष्यको दोनोंको निभाते हुए प्रमत्तदशा, अप्रमत्तदशाका झूला जैसे साधुवोंके चल रहा है, इसी प्रकारसे यह शुभोपयोगकी प्रवृत्ति शुद्धोपयोगका लक्ष्यका झूला साधुवोंके चल रहा है, पर वृत्ति इस ओर होना चाहिए कि उस शुभो-पयोगकी वृत्तिको हटाकर शुद्धोपयोगकी वृत्तिमें आवो। इस प्रकार इस चारित्राधिकारमें उस शुभोपयोगका वर्णन हो चुका। अब यह चारित्रा-धिकार समाप्त होनेको है। तो समाप्तिके पहिले ५ रत्नरूप, ५ गाथाएँ

लिखते हैं।

पंचरत्न-- ये पंचरत्न सिद्धान्तका मुकुट हैं। जो कि अभी ५ गाथावोंमें बताया जायेगा और भगवान्‌के अनेकांतको संक्षेपमें कहते हुए संसार और मोक्षकी स्थितिको यथार्थ प्रकट करनेके उद्देश्यसे इन पंचरत्नों का अवतार हो रहा है। ऐसे ये पंचरत्न इन ५ गाथावोंके द्वारा जयवंत हों। वे ५ रत्न हैं—संसारतत्त्व, मोक्षतत्त्व, मोक्षतत्त्वका साधनतत्त्व, सर्व मनोरथ स्थान और शिष्यजनोंको शास्त्र पठनका लाभ। इन ५ रत्नोंमें सब आ गया।

अब पहिला रत्न है संसारतत्त्व। उसका अब उद्‌घाटन करते हैं, उसको प्रकट करते हैं, सबको दिखाते हैं।

जे अजधागहिदत्था एदे तच्चत्ति णिच्छिदा समये।
अच्चंतफलसमिद्धं भमंति तेतो परं कालं ॥२७१॥

संसारतत्त्वागमन रत्न— जो पुरुष अयथागृहीतार्थ हैं, पदार्थोंका जैसा स्वरूप नहीं है वैसा अर्थ ग्रहण करने वाला है वह संसारतत्त्व है, इस प्रकारका निश्चय करते हैं। सो यह अत्यन्त भयानक भ्रमणरूप फलसे समृद्ध होता हुआ अनन्तकाल पर्यन्त भटकता है। यह चल रहा है संसार का वर्णन और इसे कह रहे हैं एकरत्न तो संसाररत्न नहीं है। संसार-तत्त्वका जो यथार्थ परिज्ञान है वह रत्न है।

एक उदाहरणपूर्वक तत्त्वागमको रत्नपनेकी सिद्धि— एक बार जबलपुरमें ही १० दिनके दस सूत्राध्याय पंडितोंको पढ़नेको बांट दिए। यह अध्याय ये पढ़ेंगे, वह वे पढ़ेंगे, तो वहांके जो व्यवस्थापक पंडित थे उनके जुम्मेमें तीसरा नर्कोंका अध्याय आया तो उन्हें यह अध्याय न सुहाया। उन्होंने मेरे हिस्से वाला चौथा देवों वाला अध्याय ले लिया और तीसरा नरक वाला अध्याय हमें दे दिया। तो जब जिसकी बारी आए वह सूत्रोंको पढ़ता जावे। जब यह तृतीय अध्याय आया, पहिला सूत्र आया, 'रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमः प्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः। देखो भैया! सूत्रकी समाप्ति पर सूत्रजीको अर्घ्य चढ़ाते हो ना, तो प्रत्येक अध्यायको भी तो अर्घ्य चढ़ाया जा सकता है और प्रत्येक सूत्रको भी अर्घ्य चढ़ाया जा सकता है। जब इस सूत्रको अर्घ्य चढ़ावे, तब क्या यह इसका अर्थ है कि नर्कको अर्घ चढ़ाया? इस सूत्रमें ७ नरकोंका नाम भी दिया है। ७ नर्कोंके नाम बोलकर अर्घ चढ़ाना चाहिए। इसका मतलब यह नहीं कि अर्घ नर्कको चढ़ावो किन्तु नरक-विषयक सम्यक् ज्ञानको अर्घ किया है तो संसारतत्त्व एकरत्न बतलाया

उसका अर्थ यह नहीं है कि संसार रत्न है, किन्तु संसारतत्त्वका जो परिज्ञान है वह परिज्ञान रत्न है।

संसारतत्त्वके आशय— जो पुरुष स्वयं अविवेकके कारण नाना प्रकारसे पदार्थोंको मानते हैं, वे हैं संसारतत्त्व। जैसे कि है तो यह पुद्गल शरीर और मानते हैं कि यह मैं हूं, है तो विनाशीक सर्व वैभव और मानते हैं कि मेरे पास सदा रहेगा, हैं तो ये रागादिक परभाव और मानते हैं कि यह मैं हूं। अपने रागमें कमी आए, कल्पनामें वितर्कमें कमी आए तो वे अपना अपमान समझते हैं। कोई अपनी बात न माने तो अपमान समझ जाते हैं। तो यों जो अविवेकसे पदार्थोंको नाना प्रकारसे मानते हैं और नाना प्रकारसे मानकर ऐसा निश्चय बनाते हैं कि पदार्थ यों ही हैं, ऐसे निश्चयको बनाने वाले पुरुष मोटे रूपसे तो शरीरको, वैभवको अपना मानने वाले पुरुष संसारतत्त्व हैं और बारीकीमें चलें तो रागादिक परभावोंको यह मैं हूं ऐसा मानने वाले हैं, और भी बारीकी से चलें तो ये रागादिक भाव मेरे ही परिणमन हैं, मेरे ही हैं, मेरेसे ही प्रकट होते हैं, जब इनका काल आता है तब ये उत्पन्न हो जाते हैं इस प्रकार माने या रागादिक कर्मोंकी परिणति है, कर्मोंसे उत्पन्न होती है, यह मानने इत्यादिक पदार्थोंके तत्त्वको विपरीत मानने वाले पुरुष ये सब संसारतत्त्व हैं।

मलसे मलकी परम्परा— भैया! इस संसारतत्त्वके द्वारा इकट्ठा किया गया जो महान् मोहमल है उस मलसे मलिन चित्त हो गया। सो अज्ञानी होता हुआ यह निरन्तर मोहमल ही इकट्ठा कर ही रहा है। कभी रागादिक भावोंसे विविक्त शुद्ध ज्ञानस्वरूपमात्र अपने आपका अनुभव हो तो कहा जा सकता है कि उस समय वह पुरुष मोहमलसे दूर होता है। किन्तु अपने आपको शुद्ध ज्ञानमात्रका अनुभव, परिचय नहीं करता है और विभिन्न परिस्थितियोंरूप अपनेको मानता रहता है तो वह मोहमल मलका इकट्ठा करना ही तो है। बाहरी पदार्थोंके संचयसे मोहमल बढ़ता है यह तो स्थूल बुद्धिकी बात है किन्तु रागादिक विभावोंको अपनानेसे मोहमल बढ़ता है यह आंतरिक बात है। चावलका मल तो चावलके साथ चिपटा रहता है जिसे कहते हैं ललामी और धान तो चावलका आवरण है। धानका छिलका चावलका मल नहीं है, वह तो आवरण है। उस छिलकेके अन्दर बन्द है। चावलका मल तो चावल जो रंग है वही चावलका मल है।

मल और आवरण— इसी प्रकार आत्माका मल रागद्वेष भाव है

शरीर आत्माका मेल नहीं है। शरीर तो धानके छिलकेकी तरह एक आवरण है। मल होता है वस्तुसे चिपटा हुआ, मिला हुआ और आवरण होता है वस्तुसे बाहर रहता हुआ। तो मेरे आत्मस्वरूपसे ये सब दूर रहते हैं शरीर और कर्म। यद्यपि शरीर और कर्मका अब भी एकक्षेत्रावगाह है किन्तु आत्माके स्वरूपको तो इनका कुछ परिणमन नहीं है ना? इसलिए आत्माके साथ शरीरका स्पर्श नहीं है। इसी प्रकार रागादिक भावोंका वर्तमान स्पर्श आत्माके प्रदेशोंमें है तो भी आत्माके स्वरसतः ये उत्पन्न नहीं हुए। क्योंकि रागादिक आत्माके चरित्र गुणका विकारी परिणमन हैं। तो उन रागादिक मलोंके अपनानेसे इसका उपयोग अधिक मलिन हो गया है, ऐसे मलिन उपयोग वाले जीव अज्ञानी होते हैं।

संसारतत्त्वकी वर्तमान परिस्थिति— वे सब संसारतत्त्व आत्मामें स्थित होते हुए भी परमार्थ श्रामण्यको चूँकि उन्होंने प्राप्त नहीं किया है सो अनन्तकर्म फलोंके उपयोगके प्राभारसे भयंकर होते हैं। तत्त्व है क्या इस संसारके अन्दर? कौनसा फल मिलना है संसारतत्त्वसे, सो जगत्में देख लो। एकेन्द्रिय जीवोंको देखिए। पृथ्वीको कोई जाकर खोद दे, जला दे, अग्नि पर पानी डाल दे, पानीको तपा दे, वायुको रोक ले, वनस्पतिको तो छेदा, भेदा, पकाया जाता है। उनमें जीवतत्त्व नहीं है क्या? पर वे बेचारे असमर्थ हैं। कीड़े मकौड़ोंको कौन पूछता है? यह सब कर्मफल रूप संसारतत्त्व है। चूहोंकी लोग क्या दशा करते हैं? पिंजड़ेमें उनको बन्द कर दिया, कुत्तोंको बुलाते हैं और उन कुत्तोंके सामने छोड़ देते हैं, उन चूहोंको कुत्ते मसल लेते हैं तो देखकर खूब खुश होते हैं, हंसते हैं। कुत्तों की, चिड़ियोंकी दशा देख लो। गाय, बैल, भैंस, भेड़, बकरा इन पर कौन दया करता है? हजारों और लाखों जानवर रोज मारे जाते होंगे। मुझे तो कोई रिपोर्ट नहीं सुननेको मिली पर सम्भव है कि रोज मारे जाने वाले जानवरोंकी संख्या लाखों होती होगी। घातक लोग कितनी निर्दयता से उन पर प्रहार कर देते हैं। तो यह भी सब संसारतत्त्व है।

स्वकी अश्रद्धाका फल— यदि अपने उस शुद्ध स्वरूपकी श्रद्धा नहीं है, मैं चैतन्यमात्र हूं इसका अनुभव यदि नहीं किया जा सकता तो ऐसा ही तो संसारका फल मिलेगा। आज जरा मनुष्य हैं, बात बोलना, करना जानते हैं सो जैसा चाहे उपयोग करते हैं। धन मिला है, मन मिला है, तन मिला है तो यथा तथा इसका उपयोग कर रहे हैं पर आत्माकी असावधानीका क्या फल है? आत्मज्ञानसे रहित रागादि भावोंसे मिले घुले रहनेका क्या फल है? उसका फलरूप यह ही तो सारा संसार पड़ा है।

मिथ्यात्वमें बाह्य शुभरागोंकी भी वास्तवमें अशुभता— भैया! किसी भी समय समस्त रागोंसे रहित शुद्ध ज्ञान ज्योतिका अनुभव होना चाहिए तब मोक्षमार्ग मिलता है। अन्यथा तो जैसे कोई अशुभोपयोगको अपनाए रहता है, अशुभराग करता हुआ प्रसन्न रहता है, अशुभरागको विकार और भूल नहीं समझ सकता; इसी प्रकार मजबूत भक्ति, गुरुसेवा, परोपकार, देशसेवा आदिक बाह्य शुभरागमें रहते हुए विपरीत श्रद्धाके कारण अनेक अशुभरागको अपनाए हुए हैं। मैं इन्सान हूं, मनुष्य हूं, अमुक हूं इसलिए मुझे करना है ऐसा जानकर उन रागोंको अपनाए हुए हैं तो आत्मानुभव नहीं होता कि मैंने इस समय जो दशा एक विषय कषाय की पैनी की है वह दशा इस अशुभरागके परिणामकी है। जो अपने जीवन भर शुभरागसे रहित केवल चैतन्यस्वभावकी परख अपनेमें नहीं कर सकता वह जीव आत्माका अनुभव नहीं कर सकता, मोक्षके मार्गमें नहीं आ सकता। इस कारण ऐसे अज्ञानीजन क्या फल पाते हैं? उनके संसारका फल बतलाकर इस परिज्ञानको रत्न कहा है।

जीवकी दशा जाननेका प्रयोजन वैराग्य— एक विपाकविचय नाम का धर्म-ध्यान है। विपाकविचय धर्मध्यानमें जीवके कर्मफल का चित्रण उसके ध्यानमें रहता है, कितने प्रकारके जीव हैं, कैसे-कैसे कहां रहते हैं, कैसे वे कर्मफल भोगते हैं? यह सारा चित्रण इस ज्ञानमें रहता है तो एक विशुद्धि बढ़ती है। यह जीव अपने पाये हुए समागममें कितना मस्त रहता है, कितना गर्विष्ट रहता है, कैसे-कैसे जीव जगत्के अन्दर हैं? यदि आत्माके शुद्धस्वरूपका ज्ञान न किया तो जो स्थिति इस जीवके साथ है वही स्थिति तो खुदकी थी व आगे खुदकी ही हो सकती है। करणानुयोग शास्त्रमें जो जीवके देहोंका विस्तृत वर्णन है, अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण देह से एक-एक प्रदेश बढ़-चढ़कर एक हजार योजन लम्बे, ४०० योजन चौड़े और २५० योजन मोटे शरीरकी रचनाके होनेमें कितने प्रकारकी अवगाहना हो गई? सब शरीर असंख्यात प्रदेशकी अवगाहना वाले हैं। इस अवगाहनाको जानकर भी यदि अपना चित्त न बदले और संसारतत्त्वमें ही रमा रहे तो यह अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि किसी दूसरे के लिए नहीं है, यह खुद संसारमें जन्म-मरण करेगा।

अविवेक व विवेकका परिणाम— यह जीव अविवेकी है। अविवेक कहते हैं सार और असारका विवेक न करनेको और हेय उपादेयका विवेक न करनेको। वास्तवमें उपादेय अरहंत और सिद्ध प्रभुकी तरह अपनी वृत्ति होनी है और घर, वैभव, कुटुम्ब, परिवार, इज्जत, गोष्ठी ये सब असार

हैं। ये रत्न नहीं कहे गए। यों अविवेक रखा जा रहा है। शरीर उत्पन्न होनेमें उत्पन्न हो गया, इत्यादि जो मूढता है उसका फल यह संसारक्लेश है ऐसा अवगम रत्न है। जो अपने स्वरूप तक ही अपना उपयोग रखता है, यही मात्र मैं हूं, मेरा कल्याण केवल इस मुझ सत्त्व पर ही निर्भर है, ऐसे अपने आपके स्वरूपका ही जो आलम्बन रखते हैं उनको मरण समय में क्लेश रंच भी नहीं होता है। मरण समयका क्लेश मोही जीवोंको होता है और उनको मरण समय भी क्या, जीवित अवस्थामें भी वैसा ही क्लेश बना रहता है क्योंकि मोह उनको छोड़ता नहीं है। सो मरण समयमें हाय मैं मरा, घर छोड़कर चला, ऐसा ख्याल आने पर क्लेश हुआ करता है।

स्वरूपास्तित्त्वकी दृष्टि— भैया! यहां अपने आपमें उपयोगको ऐसा गुम करलो कि मैं एतावन्मात्र हूं, इसके आगे कुछ नहीं हूं, ऐसी अपनी दृढ़ता बना लो कि यह मैं जा रहा हूं तो पूराका पूरा जा रहा हूं; मेरी दुनिया इतनी ही है जितना मेरा स्वरूपास्तित्त्व है। जो मेरा नहीं वह मेरे साथ न जायेगा। जो मेरा है वह नियमसे मेरे पास रहता है। जो मेरा नहीं है उसके छूटनेका क्या खेद है? जो मेरा है वह त्रिकाल भी मेरेसे छूट नहीं सकता है। यथार्थ परिज्ञानमें विशादकी गुञ्जाइश कहां है?

संसारतत्त्वकी हेयता— अज्ञानमें ही यह जीव कुछ न कुछ कल्पना बनाकर यह अपनेमें दुःखी रहता है। इसका कौन दूसरा इलाज करेगा? यों साधु तो हो गया, श्रमण तो हो गया पर परमार्थ श्रामण्य नहीं प्राप्त हुआ। तो मुक्तिका आनंद कैसे समझेगा? परमार्थ श्रामण्य है अपने शुद्ध सहज स्वभावका अनुभवरूप उत्कृष्ट त्याग। परवस्तुवोंपर निगाह डाल-डालकर त्याग नहीं करना है। यह तो नीचे दर्जेका त्याग है। परवस्तुवों का नाम लेकर छोड़े, हटावे तो यह निम्न श्रेणीका त्याग है। जो पुरुष निम्न श्रेणीका त्याग कर चुका है, वह क्या करे? यदि वह परवस्तु विषयक अपनी रागबुद्धि बनाता है तो उसके अभी परमश्रामण्य नहीं है। ज्ञानी तो मात्र शुद्ध सहज ज्ञानका अनुभव करता है और ऐसे ज्ञानके अनुभवके समयमें समस्त परवस्तुविषयक विकल्प चूंकि टूट जाता है इस कारण यह स्थिति ही परम त्यागकी स्थिति कही जाती है। इस स्थिति को जो नहीं पा सकता है और जो परिणतियां आत्माकी गुजर रही हैं उन परिणतियोंमें जो आत्मीयत्वका अनुभव करता है वह पुरुष बड़े कर्मफलोंके बोझको लादकर अनन्त कालतक अनन्त जन्म मरणका परिवर्तन करता हुआ अनवस्थित वृत्ति होकर अर्थात् किसी एक-एक रूप अवस्थामें

हो होकर अभी मनुष्य हैं, फिर कीड़ा मकोड़ा बन गए, पशु हो गए, नारकी हो गए, ऐसी अनवस्थित वृत्ति रखता हुआ यह व्यवहारजीव संसार तत्त्व है, ऐसा जानना चाहिए।

संसारतत्त्वसे मुक्त होने का उपाय—यह संसारतत्त्व ५ रत्नोंमें से प्रथम रत्न है अर्थात् संसारतत्त्वका यथार्थज्ञान हो जाना यह पहिला रत्न है, मौकिक है। हम आप किसी वैभव और समृद्धिमें बढ़ें तो सर्वप्रथम क्या चीज मिली? हम किसी ज्ञानमें बढ़ें तो जब तक हमें अपनी वृत्तियोंसे असंतोष न होगा तब तक हम उस गुप्त परमानन्दकी ओर कहां जा सकते हैं? इस कारण प्रथम कर्त्तव्य है कि हमारी जो परिणतियां गुजरती हैं उनसे हमें असंतोष होना चाहिए, उनसे मेरा पूरा न पड़ेगा। ये परिणतियां होती हैं और मिट जायेंगी। इसलिए उन परिणतियोंसे भिन्न अपने आप को जानो। यही संसारतत्त्वके परिज्ञान वाले रत्नको पानेका लाभ है। इस तरह इस गाथामें संसारतत्त्वका वर्णन चल रहा है। यह संसारतत्त्व नारकी, नियञ्च, मनुष्यदेव, कीड़े मकौड़े आदि फलोंको भोग रहा है। और यह फल अविवेकके कारण मिल रहा है। अपने सत्त्वके कारण अपना जो सहजस्वरूप है उसकी आत्मीयता आ जाय तो फिर यह संसारफल कहां रह सकता है? इस प्रकारसे संसारतत्त्वका वर्णन समाप्त होता है।

अब मोक्ष त्वका उद्घाटन करते हैं।

अजधाचारविजुत्तो जधत्थपदणिच्छिदोपसंतप्पा।
अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्णसामण्णो ॥२७२॥

जो पुरुष मिथ्या आचरणसे रहित है अर्थात विधि विधानपूर्वक स्वरूपके आचरणको कर रहा है यथार्थ पदार्थोंके स्वरूपका जिसने निश्चल श्रद्धान कर लिया, जो रागद्वेषसे रहित है ऐसा वह पुरुष साधुत्व सहित होता हुआ इस अफल संसारमें बहुत काल तक जीवित नहीं रहता है अर्थात संसारमें नहीं रुलता है।

मोक्षतत्त्वका अधिकारी—कैसा है यह पुरुष जो संसारमें नहीं रुलता है? विपरीत आचरणोंसे रहित है क्यों कि वह निश्चय आचारों की भावनासे परिणमता है और समय-समय पर व्यवहार पंच आचारोंकी भावनासे परिणमता है। जो ज्ञायक ज्ञेय ज्ञानकी एकतारूप अभेद आचरण की भावनारूप परिणमता है वह पुरुष विपरीत आचरण क्या करेगा? ऐसे ज्ञानी पुरुषको तो शुभोपयोगके आचरणमें भी खेद मालूम होता है। यह मोक्षतत्त्वका अधिकारी श्रमण कैसा है? सहज ज्ञान और आनन्द ही ही स्वभाव जिसका, ऐसे निज परमात्मतत्त्वका और परमाणु आदिक सब

द्रव्योंका यथार्थ परिज्ञाता हुआ परिणमता है। परपदार्थ अपने स्वरूपसे है, परके स्वरूपसे नहीं है। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपमें परिणमता है, किसी अन्य पदार्थकी परिणति लेकर वह नहीं परिणमता है। किसीका किसी अन्यपर असर या प्रभाव नहीं होता। किन्तु विभावरूप परिणम सकने वाला पदार्थ ही स्वयं अनुकूल निमित्त पाकर अपने प्रभावसे परिणम जाया करता है। ऐसे स्वरूपास्तित्वके रूपसे सर्वपदार्थोंका जिसने परिज्ञान कर लिया वह यथार्थदृनिश्चयी है।

अफल संसारका नटचर्या— यह मोक्षतत्त्वका अधिकारी श्रमण प्रशांत आत्मा है। विशिष्ट उत्कृष्ट उपशम भावोंसे परिणमें उस शुद्ध आत्मा की भावनासे सहित होनेसे यह प्रशांत आत्मा है। यह सम्पूर्ण श्रामण्यकरि सहित है। सो वह इस अफल संसारमें चिर काल तक ठहर नहीं सकता। यथाशीघ्र संसारसे मुक्त होगा। यह संसार अफल है क्योंकि यहां शुद्ध फल पाया नहीं जाता। शुद्ध आत्माकी सम्वेदनासे उत्पन्न हुआ सुख इन्द्रियरस के स्वादसे रहित यहां संसारके प्राणी निरन्तर आकुलतावों और व्याकुलतावोंसे क्षुब्ध रहा करते हैं। यह सब संसार अफल है। अनन्त आनन्द तो निर्वाणमें ही है। तो ऐसा यह मोक्षतत्त्वका अधिकारी शीघ्र मोक्षको प्राप्त होता है।

शुद्धवृत्ति— इस गाथाकी टीकामें श्री अमृतचन्द्र सूरि जी कहते हैं कि जिसकी वृत्ति शुद्ध भावोंसे अवस्थित है उसे मोक्षतत्त्व जानिए। शुद्ध भावोंमें वृत्ति किसकी ठहर सकती है? अर्थात् शुद्ध ज्ञानमात्र मैं हूं, इस प्रकारका अहंत्वका विकल्प भी न करके केवल अनुभवका स्वाद ले रहा हो उस वृत्तिको कहते हैं शुद्ध वृत्ति। यह वृत्ति कैसे उत्पन्न होगी? जब द्वितीय भाव का परिणमन न होगा, ज्ञानातिरिक्त अन्य वृत्ति न होगी तो शुद्ध ज्ञानकी स्थिति रह सकती है। ज्ञानातिरिक्त अन्य भाव क्या हैं? रागद्वेष वितर्क विचार, छुटपुट ज्ञान ये सब द्वितीय भाव हैं।

एकभाव व द्वितीयभाव— एक भाव वह है जो सदा काल वही वही समान-समान रहा करे। एक व समान ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। जैसे कोई दो चीजें सामने रखी हैं। एक तो चीज खुदकी है, एक और दूसरा लाए। यदि वे समान है तो कहते हैं कि ये तो दोनों एक ही चीजें हैं। अरे वे तो दो हैं, एक क्यों कहते हो? उस एकका अर्थ है समान, अर्थात् दोनों समान चीजें हैं। यदि द्वितीय भावका यहां आगमन न होता तो शुद्ध भावोंकी स्थिति रह सकती हैं। दूसरा भाव मेरा कुछ न हो, इसका उपाय यह है प्राणधारण करनेकी दीनता न आने दें।

संसारभ्रमणका कारण प्राणोंकी दीनता— भैया ! जिस आत्माको दसों प्राण धारण करने की इच्छा रहती है वह दीन हो जाता है। उसे जन्म-मरण मिलते रहते हैं ! उसके प्राण मिलते रहने का अर्थ यह है कि वह इस संसारमें रुलना चाहता है। तो प्राणधारण करनेकी दीनता यदि लाई जाती है तो रागादिकपर विजय करना उसके लिए असंभव है। प्राणधारण करनेकी दीनता तब न रहेगी जब नूतन कर्मफलोंको न उत्पन्न करेंगे। जो कर्म पहिले बंधे हुए हैं उन कर्मोंको जो लीलामात्रसे बिखेर देंगे, निर्जरित कर देंगे, उसमें ही यह सामर्थ्य है कि नवीन कर्मोंका वे बंध न करें और नवीन फलों को भी वे न पायें। इन सबका उपाय है भेदविज्ञान मैं तो टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञानस्वरूप हूं और ये रागादिक भाव सब मुझसे पृथक् हैं—ऐसे प्राण व कर्मफलोंसे विविक्त शुद्धस्वभावका ग्रहणकर्ता भी साक्षात् श्रमण है और उसके रागादिक द्वितीयभाव न आने के कारण शुद्ध ज्ञानमात्र स्वरसमय अपने ज्ञानस्वरूपमें उसकी प्रीति होती है।

अभ्युदयका मूल उपशान्ति— श्रमण सम्पूर्ण श्रामण्य करि सहित है। सम्पूर्ण श्रामण्य धर्म उसके निभ सकता है जो अयथाचार प्रवृत्ति न करें, विपरीत आचरण न बनाए। विपरीत आचरणसे वह हट सकता है जो एक स्वरूपको ही उपयोगमें निजतत्त्वके अभिमुख किया करे। एक ही आचरण हो तो विपरीत प्रवृत्तिसे दूर हो सकता है। ये सब बातें होने के लिए चाहिए उपशान्ति। यह उपशांति उसके प्रकट होती है जिसके अपने स्वरूपमें गुप्त और गम्भीरतासे भरा हुआ आनन्दरसका अनुभव होता है। अपने स्वरूपके गम्भीर, मधुररसका अनुभव तब होता है जब जैसा जो पदार्थ अवस्थित है, वे सर्व पदार्थ निश्चयसे सही बनाए जा रहे हों और यथार्थ पदार्थोंका व पदोंका निश्चय तब होता है जब निर्मल विवेकरूपी दीपकका प्रकाश बराबर जग रहा हो।

ज्ञानप्रकाश—यह ज्ञानप्रकाश तीन लोकके चूड़ामणि रत्नके समान श्रेष्ठ है। जगत्में कौन श्रेष्ठ है ? यह सम्यग्ज्ञान श्रेष्ठ है। इस सम्यग्ज्ञान के फलसे समस्त परबुद्धियोंसे हटकर एक निजी आत्मतत्त्वमें लगे तो उस जीवको मोक्षतत्त्वकी प्राप्ति होती है। हम लोग प्रभुके समक्ष दर्शन करने आते हैं, उनको पूजते हैं। पूजनेका क्या भाव है ? हम खुश रहें, हमारा घर हरा भरा रहे, ठीक चले। इस भावसे हम नहीं पूजने आते। किन्तु हे प्रभु ! यह सारा संसार ही दुःखमय है। यहां कोई ऐसा पद नहीं है जिसमें हमको क्लेश न हों। चारों गतियोंमें से किसी भी गतिको निरखो, पांच इन्द्रियोंमें से किसी इन्द्रिय जातिके जीवको देखो, सर्वत्र दुःख ही छाया

हुआ है।

मोक्षतत्त्वका उपकार— जब तक यह जीव इस शुद्ध अपने स्वरूप में अवस्थित नहीं होता है तब तक इसको सर्वत्र क्लेश ही है। इन सब क्लेशोंसे हटनेका उपाय प्रभुकी मुद्रासे मिलता है। पूर्वकालमें जिनेन्द्रदेव के द्वारा प्रणीत उपदेश परम्परासे जो आज उपदेश मिल रहे हैं, उससे दुःखोंसे छूटनेका उपाय मिलता है। इसलिए हम देव, शास्त्र, गुरुके प्रति अत्यन्त भक्तिसे उनकी उपासना करते हैं। मोक्षतत्त्वकी उत्कृष्टता जानना और मोक्षतत्त्वके पानेके लिए उत्कृष्टता जागना यही मोक्षतत्त्व नामक दूसरा रत्न है। पहिला रत्न कहा गया संसारतत्त्व और दूसरा रत्न कहा गया मोक्षतत्त्व।

संसारतत्त्वको रत्न कह देनेका कारण— मोक्षतत्त्वके सम्बन्धमें तो सभी स्पष्ट कह सकते हैं कि वह रत्न ही तो है। जहां सुख है, सदाके लिए निर्मलता है वह तत्त्व ही तो है, रत्न ही तो है। पर संसारतत्त्व क्या है? संसारके दुःखोंका सही परिज्ञान हुए बिना मनुष्य आगे बढ़ ही नहीं सकता है। सबसे पहिला कदम है धर्मपुरुषार्थ। धर्मपुरुषार्थ वह है कि संसारको दुःखमय जानकर उससे भयभीत हो जाना। जो संसारके सुखमें ही रत हो कर सुभट बनना चाहता है वह संसारी दुःखी ही रहेगा। संसारका यथार्थ परिचय होनेसे आत्महितमें प्रवृत्ति होती है। इस कारण संसारतत्त्वको रत्न कहा है।

संसारतत्त्वको कह देनेका द्वितीय कारण— भैया! यह जीवका महात्म्य भी तो देखो। क्या किसी वैज्ञानिकमें शक्ति है कि कीड़ा मकौड़ा बना दे? चीजोंको जोड़ जोड़कर उनमें जान ला दे अथवा शरीर बना दे? क्या किसी वैज्ञानिकमें यह शक्ति है कि वह मूत्र, मल आदिका आविष्कार कर दे? और इस प्रभुको देखो वह कैसा आविष्कार करता है। कोई श्रम नहीं उठाना पड़ता है। मलिन परिणाम किया, मोह, रागद्वेषसे गंदा हुआ तो यह प्रभु कीड़े मकोड़े जैसी पर्यायमें फैल जाता है। इन पर्यायोंमें फैल जाता है। इन पर्यायोंमें फैल जानेसे जीवका बड़प्पन नहीं हुआ करता है। किन्तु यह भी तो प्रभुकी लीला देखिये ऐसे अनेक शरीर देखिए, विचित्र शरीर हैं। अजायबघरमें विचित्र-विचित्र जानवर मिलेंगे। गंडा, मगर आदि विकट जीव रूप हो जाना इस प्रभुकी कल्पना, इच्छा करनेका ही फल है। जैसे लोग कहते हैं कि ईश्वरकी मर्जीसे यह संसार बन गया। राग द्वेष मोह किया इसने, फिर ऐसी सृष्टि हो जाती है। केवल मर्जी ही करना है। फिर देखो यह सारी सृष्टि अपने आप होती रहती है। तो यह

एक विचित्र तत्त्व है। ऐसा हो जाना भी तो किसीके वशकी वात नहीं है। अजीवकी, पुद्गलकी या अन्य किसी पुरुषकी किसीको किसी जगह पैदा कर दे ऐसा सामर्थ्य तो नहीं है। यह सामर्थ्य इस जीवकी है कि परिणाम करे और नाना विचित्र पर्यायोंरूप वन जाये। यही है संसारतत्त्व।

मोक्ष तत्त्वरत्न— संसारतत्त्वके विपरीत है मोक्षतत्त्व। मोक्ष नाम है सदाके लिए छूट जानेका। किससे छूट जाना जो स्वयं नहीं है, ऐसी कुछ भी वात लगी हो उन सबसे छूट जाना इसीका नाम मोक्ष है। मैं हूं ज्ञानमात्र, इस चैतन्यस्वभावके अतिरिक्त और जो कुछ भी लगे हैं रागद्वेष, कर्म, नोकर्म इन सबसे अलग हो जाना, केवल रह जाना, सो इसको ही कहते हैं मोक्ष। तो ऐसा मोक्ष पानेके लिए भावना तो यह वनानी चाहिए कि मैं सबसे अलग हूं। विकारोंसे इस वर्तमानमें अपनेको पृथक नहीं मान सकते हो तो फिर विकारोंसे छूटनेका अवसर कब मिलेगा? विकारोंसे छूटनेका प्रारम्भिक उपाय तो यह है कि उन विकारभावोंसे अपनेको पृथक् जान लो और प्रारम्भिक उपाय क्या है? प्रायः विकारोंसे छूटनेका सबसे पहिला यही उपाय है कि अपने अनन्त आनन्द अहेतुक चैतन्यस्वभावकी श्रद्धा करो। ऐसा जो विकारोंसे पृथक् अपनेको मानेगा वह विकारोंसे पृथक् हो जायेगा। इस तरह मोक्षतत्त्वके वर्णनके प्रसंगमें कार्य कारण भाव वताते हुए आचार्य देवने मोक्षतत्त्वका उद्घाटन किया है। उसे तुम मोक्षतत्त्व जानो।

प्रभुके ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोगकी युगपद्वृत्ति— जो शुद्ध स्वभावकी वृत्तिमें स्थित हो जाता है उसके ज्ञान और दर्शनका उपयोग एक साथ चलने लगता है। ज्ञान और दर्शन ये गुण त्रिकाल हैं आत्मामें और भी जितने गुण हैं उन सब गुणोंका परिणमन भी निरन्तर हो रहा है। सो ज्ञानका भी परिणमन मात्र निरन्तर चलता रहता है और दर्शन गुणका भी परिणमन निरन्तर चलता रहता है। पर जहां रागभावका पर्दा सामने आ जाता है, भाप जाता है, किसी प्रकारकी अटक सामने उपस्थित होती है तो उपयोग जिसे कहते हैं यूजिङ्ग, किसी भी पदार्थका प्रयोग होना या यह प्रयोग ज्ञान और दर्शनको एक साथ ग्रहण नहीं कर सकता। क्योंकि इसमें रागकी अटक है। राग भी मिट जाता है तो उसका वड़ा राग रह जानेके कारण जो संस्कार वने हैं उन संस्कारोंकी आसक्तिके फलमें अन्तर्मुहूर्त तक उपयोग दोनों गुणोंको एक साथ नहीं ग्रहण करता। प्रभुमें ऐसी सामर्थ्य है कि उनकी उपयोगवृत्ति एक साथ ज्ञान और दर्शन दोनोंके सम्बंधमें होती रहती है। जैसे मोटे रूपमें कहते हैं ना उपयोग लगाया।

उपयोग लगानेकी बात क्रमशः हुआ करती है और यह क्रमशः विकार-वृत्ति १२हवें गुणस्थान तक है और १०वां गुणस्थान तो साक्षात् कारणकी वजहसे है। ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थानमें अन्तरमुहूर्त तक उपयोगके क्रम से चलनेकी स्थिति रहती है। पर भगवान् अरहंत और सिद्ध प्रभुकी यह उपयोगवृत्ति एक साथ चला करती है।

प्रभुके ज्ञानकी शुद्धवृत्ति— प्रभुके ज्ञेयाकार ग्रहणके अतिरिक्त कोई तरंग नहीं उठती है। निरन्तर जानन-जानन ही बना रहता है। ऐसे शुद्ध जाननके फलमें निरन्तर आनन्दका ही परिणमन बना रहता है। यही देख लो जब रागद्वेषकी वृत्ति जगती है। इष्ट अनिष्टकी बुद्धि उत्पन्न होती है तब यह जीव क्षुब्ध होकर अंश-अंशरूप ज्ञानमें अटक-अटक कर संक्लेश करता है। जहां किसी प्रकारकी राग तरंग नहीं है वहां यह ज्ञान कहां अटके? यह तो शुद्ध स्वरूपको निरन्तर जानता रहता है। ऐसा मोक्षतत्त्व अपनेको मिले, इसका कारण निर्मल सम्यग्ज्ञान है। तो पदार्थों के स्वरूपका निर्मल सम्यग्ज्ञान बराबर उपयोगमें बना रहे इससे बढ़कर वैभव इस जगत्में अन्य कुछ नहीं है। इस प्रकार यह मोक्षतत्त्वका वर्णन किया है।

अब मोक्षतत्त्वका साधन भूततत्त्व क्या है? इस बात पर प्रकाश डालते हैं। अभी तक दो तत्त्वोंका वर्णन किया गया है। संसारतत्त्व याने संसारतत्त्वका यथार्थ परिज्ञानरूपमें तत्त्व व मोक्षतत्त्व। इन दो तत्त्वोंके बाद अब यह बतला रहे हैं कि मोक्षतत्त्वके साधनभूत तत्त्व क्या हैं?

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं वहित्थमज्झत्थं।
विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्धत्ति णिद्दिठ्ठा ।।२७३।।

मोक्षतत्त्वके साधनतत्त्वका वर्णन— मोक्षका साधनतत्त्व क्या है? इस पर विचार करते-करते यह समझमें आया कि जो मोक्षमार्गमें लगा हुआ आत्मा है वही मोक्षतत्त्वका साधनतत्त्व है। व्यवहारकी बातें, तन, मन, वचनकी क्रियाकी-बातें, ये साधनतत्त्व नहीं कहे, ये उपचार साधन हैं, साक्षात् साधन नहीं हैं। साक्षात् साधन तो आत्माका रत्नत्रयरूप परिणाम है। सो वह रत्नत्रयरूप परिणाम आत्मासे भिन्न चीज नहीं है। उन रूपोंमें परिणत हुई आत्मा ही रत्नत्रयस्वरूप है। इस कारण साधनतत्त्व सीधा मोक्षमार्गमें लगा हुआ आत्मा है। यह कह रहे है। गाथाका अर्थ क्या है कि जो जीव यथार्थ रूपसे समस्त तत्त्वको जानते हैं तथा बहिरङ्ग और अंतरङ्ग उपाधिका त्याग करते है अर्थात् बहिरङ्ग उपाधि तो धनधान्य वस्त्रादिक हैं उनका त्याग करके अंतरंग परिग्रह विषयकषायके परिणाम

उनको त्याग करके जो विषयोंमें लीन नहीं होता है वह जीव शुद्ध मोक्षतत्त्व का साधन है। ऐसा परमागममें निर्देश किया गया है।

मोक्षतत्त्वके साधनतत्त्वका वल— मोक्षतत्त्वका साधक साधनतत्त्व कैसा है? भली प्रकार पदार्थोंका निर्णय मोक्षतत्त्वके साधनतत्त्वभूत आत्मा ने किया है। किस वलसे किया है? एक सातिशय ज्ञानकी ज्योति प्रकट हुई है इसके वलपर किया है। वह सातिशय विवेकज्योति कैसे प्रकट हुई? शुद्ध जो परमात्मतत्त्व है और जो अनन्तपदार्थ हैं उन सब पदार्थोंका विचार करने से उनके वड़ी कुशलता थी, उस ज्ञान कुशलताके कारण इसके परम विवेकज्योति प्रकट हुई। उन सब पदार्थोंके ज्ञानमें ज्ञानके योग्य मुख्य पदार्थ तो परमात्मतत्त्व है। निश्चयसे वाहरमें स्थित परमात्माको कोई नहीं जानता। क्योंकि जाननेकी क्रियाका प्रयोग आत्मप्रदेशोंसे वाहरमें नहीं होता है। किसी भी पदार्थकी परिणतिका प्रयोग उस ही पदार्थसे हो सकता है।

पदार्थोंके व्यवस्थित रहनेकी स्वयंमें व्यवस्था— प्रत्येक पदार्थका उस स्वयंमें ही परिणमन होनेकी व्यवस्था पदार्थमें ६ साधारण गुणोंके कारण है। पदार्थ हैं और वे अपने ही स्वरूपसे है, परके स्वरूपसे नहीं हैं। अपने में ही परिणमते हैं परमें नहीं परिणमते और फिर प्रदेशवान हैं और किसी न किसी ज्ञानके द्वारा प्रमेय हैं। ऐसी इन साधारण विशेषतावों के कारण पदार्थोंमें यह स्वतः व्यवस्था वनी हुई है कि प्रत्येक पदार्थ मात्र अपनेमें परिणमें। यदि कदाचित् कोई ऐसी गुञ्जाइश निकल आती कि यह जीव कुछ परपदार्थोंमें भी कर देता है तो ये अज्ञानी जन तो सारे विश्वको चवाकर रख देते। उनके कपाय और तृष्णा इतनी जवरदस्त लगी हैं कि क्या वे गम खाते है? पर वस नहीं चल सकता, क्योंकि वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि वे अपने प्रदेशोंके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं परिणम सकते।

सर्वत्र स्वकार्यमें स्वसाधन-तत्त्व— हम जब परमात्माका ध्यान करते हैं उस समय निश्चयसे हम सिद्धक्षेत्रमें विराजमान परमात्माको नहीं ध्या सकते। हम उस परमात्माको नहीं जान सकते हैं, न पूज सकते हैं किन्तु उस परमात्माको विषयभूत बनाकर जो हमने अपने आपमें अपनी श्रद्धा ज्ञानचारित्रका परिणमन किया है उस परिणमनको ही हम ध्याते हैं, पूजते है, भाते हैं, करते हैं, पर भगवानकी पूजा कभी नहीं कर हैं। भगवान्को अपने उपयोगका विषय वनाकर अपने को ही रोज पूजा करते हैं। जैसे कोई पुरुष किसी पुत्रादिकको मोह नहीं सकता, न उनमें

मोह कर सकता है, किन्तु यह अज्ञानीजीव उस कुटुम्ब परिवारको विषय-भूत बनाकर अपने श्रद्धा ज्ञान चारित्रके विपरीत परिणमनको करता हुआ अपने आपमें मोह करता रहता है। अपने आपको मोह रहा है, अपने आपको कल्पित कर रहा है। वस्तुस्वरूप यों है।

सम्यक्त्व साधनका बल— भैया! देखिये सम्यक्त्वकी बलिहारी। यहां तो संकट ही क्या है। नरकोंमें सम्यग्दृष्टि नारकी जीवों पर भी चारों ओरसे नारकी टूटते हैं और अनेक प्रकारके उपद्रव करते हैं और उन उपद्रवोंके बीच उसके शरीरके सैकड़ों टुकड़े हो जाते हैं और फिर भी मिल जाते हैं, मर तो सकते नहीं। मर जायें तो उनकी दृष्टिसे बड़ी अच्छी बात है, पर पापोंका उदय ऐसा है कि शरीरके टुकड़े-टुकड़े हो जायें तो वे टुकड़े फिर मिश्रित हो जाते हैं। धन्य है ऐसे सम्यग्दृष्टिको कि सम्यग्दर्शनके प्रतापसे वह नारकी भी अंतरगमें निराकुल रहता है और कर्मोंकी निर्जरा करता रहता है। तो डोर पकड़ो सम्यक्त्वकी। यह उपयोग-पतंग चाहे कहीं चली जाय, मगर सम्यक्त्वकी डोर रहेगी तो सुख रहेगा, निराकुलता रहेगी। इस जीवका शरण केवल सम्यग्दर्शन है। इसमें हम और आपका आलम्बन है।

इच्छाके अभावका बल— जैसे किसी बच्चेके हाथमें कोई खिलौना या खानेकी चीज है और उस पर चार बच्चे और टूट रहे हैं उस चीजको छुड़ानेके लिए तो वह परेशानीमें आ गया। यदि वह बालक उस वस्तुको अपने हाथसे फेंक दे या पैरोंसे घसीट दे यह जानकर कि यह तो अब मेरे पाससे चली ही जावेगी तो वह फिर रोवेगा नहीं। उस बच्चेको आपने रोते हुए न देखा होगा, चाहे वह यही सोचकर फेंक दे कि लो यों गई, वह बालक रोवेगा नहीं, क्योंकि उसने किसी भी स्थितिमें सही अपनी ही इच्छासे फेंका है। सम्यग्दर्शनमें समस्त परपदार्थोंको अपने आत्मासे अपनी इच्छापूर्वक अलग किया जाता है। इस कारण सम्यग्दृष्टी पुरुष किसी भी स्थितिमें व्याकुल नहीं होता है। व्याकुल होता हुआ भी अंतरंग में निराकुलता है।

सुभवितव्यता— उनका बहुत बड़ा ऊँचा भवितव्य है कि जिनको निरंतर अच्छी ही बातें सुननेको मिलें, गुणोंकी ही बातें देखनेको मिलें और ऐसे पवित्र वातावरणमें बहुत अधिक काल तक रहें उनका भवितव्य उत्तम है और जिनको बीसों बार कभी कोई मोही आकर कुछ कह गया, कभी कोई मोही आकर कुछ कह गया। मोहियोंसे बातें अधिक चलतीं हों तो वह उपयोग उपद्रवित होता चला जायेगा और फिर अपने श्रद्धानमें

कठिनाई पड़ेगी और अपने को निराकुल रखना कठिन हो जायेगा। इसी कारण इतने परम उपकारी ऋषी संतोंका यह उपदेश है कि अपना विचार अपना आचार, अपना सहवास पवित्र रखो अन्यथा दूसरे लोग कुछ मदद न कर देंगे। वे तो हंसने को खड़े होते हैं। चले जा रहे हो और रास्तेमें कहीं रिपटकर गिर जावो तो देखने वाले हंसेंगे, फिर चाहे दया आए किसीके तो आपको उठा दे, सहानुभूति कर दे। पर विरला ही पुरुष ऐसा होगा जो आपसे सहानुभूति रखेगा। तो यह जगत ऐसे ही जीवोंसे भरा हुआ है।

सम्यक्त्व ज्योति— जैसे राखसे ढकी हुई आग अपने अन्तरमें ज्योतिचमक धर्म रखती ही है, इसी प्रकार गृहस्थजालके अनेक संकट, अनेक उपद्रवोंकी राखमें दबे हुए है। सम्यग्दृष्टिजन सम्यक्त्व की ज्योतिसे चमकदार बने रहते हैं तो वहां व्यग्रता नहीं होती है। एक होता है आखिरी साहस। जैसे किसी परिस्थिति वश किसी रोजगारके खटाकेमें ऐसा पड़ गए कि उसम फंसाव हो गया, कुछ टोटा भी पड़ने लगा, कुछ गड़बड़ भी होने लगी। ऐसी स्थितिके बीच आप यह समझ रहे है कि अमुक दुकानमें २० हजारका टोटा पड़ रहा है तो आप ऐसा ही साहस बनालें कि आखिर क्या होगा? २० हजार ही तो जायेंगे, इससे अधिक और क्या हो सकता है? ऐसा सोचकर आप निराकुल रह सकते हैं। यह सम्यग्दृष्टि गृहस्थ इतना साहसवान् होता है कि धनको भी संभालता है और यदि कभी कभी आ जाय व्यग्रता भी चिंता भी हो, अपनी व्यवस्था के अनुसार कार्य न बने तो भी उस सम्यग्दृष्टि गृहस्थमे आखिरी साहस इतना जबरदस्त बना हुआ होता है कि आखिर क्या होगा? यह सारा धन निकल जायेगा। इससे अधिक तो न होगा। यह सारा संग बिछुड़ जायेगा। इससे क्या होता है? इतने पर भी मेरा क्या बिगड़ेगा? मैं तो वही था वही हूं। ऐसा आखिरी साहस सम्यग्दृष्टि पुरुषमें होता है जिसके कारण वह विकट परिस्थितिके बीचमें भी रहकर अन्तरमें निराकुल रहता है।

मोक्षतत्त्वका साधनतत्त्व निश्चय रत्नत्रय— यह मोक्षतत्त्वके साधन तत्त्वका वर्णन किया जा रहा है। तो साधन तत्त्व क्या बताया जाय? जिसका कि कभी कोई विरोध या खण्डन भी न हो सके। यदि बाह्य तपस्याएँ, अन्य तन, मन, वचन की क्रियावोंको मोक्षतत्त्वका साधन तत्त्व बताया जाय तो उन क्रियावोंके होते हुए किसीको मोक्ष होता है और किसी को नहीं होता है। उससे बढ़कर चलें तो मनके विचार और ये रटंलका

विधायें, ज्ञान इनको मोक्षका साधनतत्त्व बताया जाय तो यह सब भी भ्रम भी फैल हो सकता है। अन्तरमें जो निज परमात्मतत्त्वकी श्रद्धा ज्ञान और रमणरूप परिणमन ऐसा यह रत्नत्रय ही मोक्षतत्त्वका साधन है, किन्तु यह दिखता कहां है ? यह अलग है कहां ? ये सब गुण तीन दुकानें तो हैं नहीं कि एक सम्यग्दर्शनकी दुकान, एक सम्यग्ज्ञानकी दुकान और एक सम्यक्चारित्रकी दुकान। यह भिन्नता कहां मिलेगी ? इन तीनों शुद्ध परिणतियोंमें परिणमता हुआ आत्मा इन तीनों रूपोंमें दिखता है। इस कारण निज एकत्वकी परिणति ही मोक्षतत्त्वका साधनतत्त्व है। शुद्धोपयोगी जीव ही मोक्षका साधन तत्त्व है।

स्वरसस्वादीकी निष्परिग्रहता— ज्ञेयादिक अनेक प्रकारके परिग्रहों को और रागद्वेषादिक अनेक प्रकारके अंतरंग परिग्रहोंको छोड़ करके जो विषय कषायोंमें आसक्त नहीं होता है वह पुरुष मोक्षतत्त्वका साधनतत्त्व कहा गया है। परिग्रहों का छोड़ना कैसे बने ? यह जीव अपने आपके ज्ञानस्वरूपका परिग्रहण करे तो बाह्य परिग्रह छूटें। इस जीवकी प्रकृति किसी न किसी जगह रमनेकी पड़ी हुई है। दर्शन, ज्ञान और चारित्र आत्माके सहज और शाश्वत गुण हैं। विषयोंमें आसक्त कौन नहीं होता है ? जिनको विषयोंसे भी अधिक आनन्द बरसाने वाला कोई तत्त्व मिल गया हो। जैसे गृहस्थजन कब भोजनमें आसक्त नहीं होते ? जब कि भोजन के साथ मिठाई भी रखी हो। आपकी थालीमें दाल और रोटी परोसी है और उसी थालमें बूँदी और सेव परोसे हैं तो उस दाल और रोटीमें आपकी आसक्ति न होगी, बूँदी सेवमें ही आसक्ति होगी। और कदाचित् बूँदी सेव खाकर छककर परेशान होकर भी दाल रोटी को खायेगा तो भी उसमें आसक्ति न होगी। क्योंकि आसक्तिके योग्य जो विशिष्ट रस है उसका स्वाद ले चुका। इस आत्माकी यह आदत है कि इसको अधिक सुख किसी बातमें मिलता हो तो झट छोटे सुखको छोड़ देगा। यह विषयों का सुख कब छोड़ा जा सकता है जब विषयोंके सुखसे भी अधिक आनन्द स्वरूप वाले किसी तत्त्वका अनुभव हो जाय तो विषयोंका सुख छोड़ा जा सकता है। ये श्रमणसंत अनादि अनन्त स्वरसरूप अमृतका स्वाद ले चुके हैं इस कारण बाह्य ग्रन्थोंसे विविक्त हो जाते हैं।

अन्तस्तत्त्वकी उपासनासे स्वरसस्वादानुभव— स्वरसका स्वाद कैसे उत्पन्न हुआ ? परमसमाधिके कारण, समताभावके कारण। शुद्ध आनन्द समतापरिणाममें ही है। इष्ट और अनिष्टका भाव आ गया, द्वेषका भाव आ गया, यह मेरा है, यह पर है, यह मेरा साधक है, यह बाधक है, यह

मेरा उत्कर्ष है, यह अपकर्ष है, यह भला है, यह बुरा है, इस प्रकारका यदि द्वैतभाव आ गया तो आनन्द समाप्त है। जब-जब समता आती है तब-तब आनन्द होता है और जिन श्रमणसंत जनोंके परमसमाधि प्रकट हुई उनको आत्मीय आनन्द भली प्रकारसे उत्पन्न होता है। यह समतापरिणाम कैसे प्रकट हो? उसका उपाय है निज आत्मतत्त्वकी भावना करना। यह मैं सहजस्वरूपी ज्ञानस्वभावी आत्मतत्त्व क्या हूं? केवल प्रतिभास ज्योति इस प्रतिभास ज्योतिस्वरूपका किसी अन्य पदार्थके साथ सम्बन्ध नहीं है। ऐसे समस्त परपदार्थोंसे विविक्त और अपने आत्माके एकत्वमें सदा द्योतमान् निजस्वरूपकी भावना हो कि यह मैं सबसे न्यारा हूं, सब झंझटों से न्यारा हूं, मेरे स्वरूपमें मात्र मैं ही हूं। अब यों विभक्त एकत्वगत आत्मतत्त्वकी भावना होती है तो समतापरिणाम प्रकट होता है।

अन्तस्तत्त्वकी उपासनाका परमपुरुषार्थ व प्रताप— किसी नदीका पूर जहां चाहे वहां अधूरा बांधते रहो तो उससे पूर रुक न जायेगा। थोड़ा यहां काम किया, फिर वहां काम किया, इससे नदीका पूर बंध नहीं सकता किन्तु विधिपूर्वक जब पूर बांध दिया तो वह पूर रुकता है। इसी प्रकार रागद्वेषका पूर हम ऊपरी बातोंसे ऊपरी आचरणोंसे रोकें तो नहीं रुक सकता है। पहिले एक जगह बांधा, फिर दूसरी जगह बांधा, फिर पहिली जगहका बांध निकल गया, तो कहींसे संभालें और कहीं से फूट निकलता है। तो विधिपूर्वक सम्यग्दर्शनके उपायसे वस्तुके स्वरूपका यथार्थ परिज्ञान करके रागद्वेषके पूरको रोका जाय तो वह यथार्थरूपसे रुक सकता है। ये श्रमण संत जनोंने इस निज परमात्मतत्त्वकी भावना करके, परम समाधि उत्पन्न करके उत्कृष्ट आनन्दका स्वाद लिया है और उस स्वादसे ऐसे छक गये हैं कि उनको इस आत्मीय अनुभव रसके अतिरिक्त कोई सा भी इन्द्रिय सुख उनको रुचिकर नहीं होता है। पर निज आत्मतत्त्वकी भावना उनके बन कैसे गई? तो उसका सीधा कारण बताते हैं कि पंचेन्द्रियके विषयोंकी आधीनता उनके नहीं रही, पर यह आधीनता भी नहीं रही इसका कारण क्या है? इसका कारण आत्मस्वरूपका और परपदार्थोंका यथार्थज्ञान है।

कल्याणका मूल सम्यग्ज्ञान— भैया! समस्त कल्याणकी जड़ सम्यग्ज्ञान है। इस दुर्लभ जीवनको पाकर ज्ञानके उद्यममें शिथिल न होओ। अन्य सब बातें छूट जाएँ, शिथिल हो जाएँ, कमी हो जाय तो उनसे कोई हानि नहीं है। उन सबसे छूटकर रहनेमें वही आनन्द होगा जो अरहंत और सिद्ध अवस्थामें आनन्द होगा। यहां जैसा गुजरता है गुजरने दो पर जितनी शक्ति हो, जितना उपयोग चल सके अपने साहसको न छिपा

कर ज्ञानतत्त्वका अर्जनापूर्ण उद्यम करना चाहिए। ये सब भला-भला कहने वाले लोग नट जायेंगे, सहायक न बनेंगे। इन मोही लोगोंसे किनसे क्या आशा रखते हो? यह अपने पतेकी बात कही जा रही है। उस ज्ञानमें ही सामर्थ्य है कि घरके भीतर तिजोरीमें रखा हुआ रत्न सीधा यहां बैठे ही बैठे जान जाते हैं। उसमें भींत वगैरह कोई अटक नहीं करते। इसी प्रकार यह ज्ञानी दुकानकी, कमाई की, परिवारकी, रिश्तेदारोंकी सर्व झंझटोंको पार करके अपने शुद्ध आत्मतत्त्वको जान लेता है। इस ज्ञानमें बाहरी समस्यावोंकी कोई अटक नहीं रहती है। इस सम्यग्ज्ञानके बलसे इन श्रवण संतोंने आत्माके एकत्वको पाया है, ऐसे एकत्व वृत्ति वाले साधु ही मोक्षके साधन हैं।

मोक्षतत्त्वका साधनतत्त्व-- यहां प्रकरण यह चल रहा है कि मोक्ष तत्त्वके साधनभूत तत्त्व कौन हैं? जो महान आत्मा वस्तुके स्वरूपके पाण्डित्यमें बड़ा कुशल है और मध्यस्थ होकर अपनी वृत्ति बनाता है, जिसको विषयोंमें आसक्ति नहीं होती है वह पुरुष मोक्षतत्वका साधन तत्व है और संसारतत्व का साधनतत्व कौन है? और संसारतत्वका साधनतत्व कौन है? जो अविवेक रखता है, विषयोंमें आसक्ति रखता है, मोही होता है, वह है संसार तत्वका साधन तत्व। वस्तुका जैसा स्वरूप है यह ज्ञाता जैसा है और यह समस्त ज्ञेय जैसा है उन ज्ञेयके ज्ञाता तत्वका यथावस्थस्वरूप जो समझता है वह ही मोक्षमार्गमें कुशल पंडित कहलाता है।

ज्ञाता और ज्ञेय तत्व— इस ज्ञाता और ज्ञेयतत्वका यथावत स्वरूप कहा जाता है उसकी विधि है अनेकांत पद्धति। अनेकांत पद्धतिसे समस्त ज्ञेय और ज्ञाताका ही निर्णय होता है। सो कैसे अनेकांत है और अनेकांत से किस प्रकार वस्तुका अवगम होता है, यह ज्ञेयाधिकारमें खूब बताया गया है। जिसका सारभूत संक्षेप यह है कि समस्त अर्थ द्रव्यात्मक है। अर्थ कहते हैं उसे जो निश्चित किया जाय। अर्यते निश्चीयते इति अर्थः जिसका निर्णय किया जाय उसे अर्थ कहते हैं। और इसी व्युत्पत्तिके कारण श्लोकोंका अर्थ भी कह देते हैं। अर्थ मायने इसके भावोंका निश्चय करना। इस श्लोकका क्या अर्थ है? अर्थात् इस श्लोकमें क्या कहा गया है? इसका निर्णय बतलावो। जो निश्चय किया जाय उसको अर्थ कहते हैं?

अर्थका विवरण— जगत्में जितने भी अर्थ हैं वे सब द्रव्यात्मक हैं। सदात्मक हैं और द्रव्य सब गुणपर्यायात्मक हैं। गुणरूप हैं, और पर्यायरूप है। तो यह समस्त अर्थ समस्त द्रव्य पर्यायोंके रूपसे तो व्यतिरेक रखने वाले हैं और गुणोंकी दृष्टिसे अन्वय रखने वाले हैं। कितने पदार्थ हैं सब

जगत्में कितने द्रव्य हैं ? अनन्तानन्त द्रव्य हैं, और उनकी जातियां कितनी हैं ? उनकी जातियां ६ हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। लोग जल्दीमें कह जाते हैं कि द्रव्य ६ होते हैं। यह कथन शब्दानुसार सही नहीं है। यदि यह कहें कि द्रव्य ६ प्रकारके होते हैं तो ये सही शब्द हैं। द्रव्य ६ नहीं हुआ करते हैं। द्रव्य ६ प्रकारके होते हैं। जीव प्रकारमें अनन्त जीव हैं, पुद्गल प्रकारमें अनन्त पुद्गल हैं। धर्म नामका प्रकार एक ही है। अधर्म नामका प्रकार एक ही है। आकाश नामके प्रकारका द्रव्य एक है और काल नामके प्रकारके द्रव्य असंख्यात हैं। तब द्रव्य अनन्त हैं।

वस्तुके परिचयका कारण वस्तुकी अर्थक्रिया— भैया ! प्रकारसे वस्तु ज्ञात नहीं होती है। प्रकारसे केवल लक्षण ज्ञात होता है, वस्तु ज्ञात होती है व्यक्तिगत पहिचानसे। वस्तुका संबन्ध उस व्यक्तिसे ही है और प्रकारका सम्बन्ध किसी वस्तुसे नहीं है, किन्तु ज्ञाताके उपयोगसे है। द्रव्य ६ प्रकारके हैं। ये ६ प्रकार आपको कहां मिलेंगे, बाहरमें या आपको अपने ज्ञानमें ? द्रव्य अनन्त हैं। ये प्रकट चौड़े पड़े हुए हैं। प्रकारोंका अस्तित्व नहीं होता है। अस्तित्व व्यक्तिका होना है। दूध गायसे मिलता है, गायकी जातिसे नहीं मिलता है। आपको दूध चाहिए तो गाय दुहने जायेंगे कि गायकी जातिको दुहने जायेंगे। जातिका अस्तित्व नहीं है, गायका अस्तित्व है, पर उन गायोंमें जो समान धर्म पाया जाता है, उस को अपने अन्तरमें पहिचान करके, समझ करके हम गाय जाति बोलते हैं। जो जिसकी अर्थक्रिया हो वह वस्तु कहलाता है। जिसका परिणमन हो, व्यापार हो उसको वस्तु कहते हैं। जातिमें परिणमन नहीं होता। कभी यह कहा जाता है कि देखो अमुक जाति तो आजकल इस तरहसे उद्दण्ड हो रही है तो क्या जाति उद्दण्ड होती है ? नहीं। जहां उस प्रकारके अनेक व्यक्ति उद्दण्ड होने लगें उसको ही कहा जाता है कि अमुक जाति उद्दण्ड हो गई। तो अर्थक्रिया व्यापार, श्रम, सब कुछ व्यक्तिमें होता है जातिमें नहीं होता है।

पदार्थोंका निर्देश व उनसे हितकी शिक्षा— ये सब अनन्तानन्त पदार्थ हैं। उन पदार्थोंमें एक पदार्थका दूसरे पदार्थके साथ रंच भी संबंध नहीं है। वे सब अपने-अपने स्वरूपको लिए हुए हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने में तन्मय सर्वगुणोंसे सहित है और इसी कारण वह है, खुद अपने स्वरूप से है, परके स्वरूपसे नहीं है। अपने ही प्रदेशमें परिणमता है, अन्यके प्रदेशमें नहीं परिणमता। स्वयं प्रदेशवान् है और किसी न किसी ज्ञानके

द्वारा प्रमेय है। यों पदार्थोंके ज्ञानसे जिनका ज्ञान विशद निर्मल हो गया है ऐसा होते हुए यह महान् आत्मा अनन्त शक्तिमय चैतन्यस्वरूपसे देदीप्यमान् जिसका अन्तस्तत्त्व हो गया है, खुद भी अपनेको प्रकाशमय अनुभवता है और प्रकाशमय स्वरूपमें ठहरा रहता है यह है, मोक्षतत्त्वका साधनतत्त्व।

सिद्धिका प्रथम उपाय सिद्धिके अनुकूल संकल्प— भैया ! आराम से, मौजसे, शौकसे, अपने मनको स्वच्छन्द बनाए रहनेसे, अपने पाये हुए समागमोंमें गर्व करनेसे, अपना था, अपना है, अपना होगा, इस प्रकार की पर्यायमें बुद्धि रखनेसे तो यह जीव संसारतत्त्वका साधनतत्त्व बनता है। क्या बनना है तुम्हें ? मुक्त, शुद्ध अर्थात् अकेला मैं रह जाऊँ ऐसा बनना है। जहां शरीर भी न हो, जहां परवस्तुवोंका कोई लगाव लपेट न हो ऐसा बनना है ना ? तो ऐसा यदि सोचने लगे तो बन पावोगे। यदि ऐसा न सोचा तो ऐसा न बन पावोगे। लौकिक कामोंमें जिस कामको करता है उसका इरादा महीनों पहिलेसे करते हैं और तब फिर कहीं उस इरादेमें सफल हो पाते हैं। शुद्ध बननेका काम चाहें और अपनी तैयारी यह न बनाएँ, अपना इरादा और संकल्प यह न बनाएँ तो यह कैसे हो सकता है कि सिद्ध हो जायेंगे ? हमें बनना है केवल और यहां लिपटे हैं परसे तो परके लिपटनेके उपायसे क्या हम कभी केवल बन सकेंगे ? कैवल्य बनाना हो तो अपनेमें अपनेको पहिले केवल अनुभव करो।

मोक्षतत्त्वकी साधना स्वतन्त्र व सुगम कृति— जिसने समस्त बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग परिग्रहोंकी संगतिका परित्याग किया है वह है मोक्षतत्त्वका साधनतत्त्व। कैसा स्वतन्त्र काम है ? उपयोग तो यही है। इस उपयोगकी चालमें ही अन्तर डालता है। कोई घोड़ा यदि दुष्ट हो तो उस का सवार तकलीफ पाता है। घोड़ा उसे कुमार्गमें ले जाये, झाड़ियोंमें घसीटता फिरे, तो सवार दुःखी होता है। मगर उस घोड़ेके लगाम तो है और उसको लगामको डाटो और उसे अच्छे मार्गमें ले आओ। ला सकता है यह उस घोड़ेको अच्छे मार्ग पर। किन्तु जो बच्चोंके खेलनेका घोड़ा होता है, एक लाठी टांगोंके बीचमें डाल लिया और उसका एक छोर पकड़ कर टिक-टिक करके चलाया जा रहा है, उसे घोड़ा मानते हैं ना ? तो जिसमें चाल नहीं है वह काम ही क्या करेगा ? जिसमें चाल है वह आज दुर्बुद्धिमें है, दुष्ट है, कुपथमें लिए जा रहा है। चाल तो है, लगाम तो है। यह आत्मा आज विषय और कषायोंमें अनुरक्त है, मगर स्वरूप तो प्रभुके समान है। उस प्रभुताके जिस क्षण दर्शन कर लिए जायेंगे उस

क्षण सर्वझंझट छूट जायेंगे।

स्वाधीन साधन— मोक्षतत्त्वका साधनतत्त्व कौन है? यह बताया जा रहा है। ये हैं साधु, संत, ज्ञानी पुरुष। अपनेको चकमकायमान करने, जगमग करनेका उपाय है कि समस्त परपदार्थोंसे भिन्न ज्ञानमात्र अपने स्वरूपको देखा जाय तो यह स्वयं जाज्वल्यमान् अपने आपमें अनुभूत होता है। यदि यही न किया जाये तो फिर किया क्या? एक पहलवानने घोषणा की जिसको लड़ना हो मुझसे लड़ ले। सो बड़े-बड़े पहलवान लड़नेको तैयार न हुए। एक जो बिलकुल मामूली हलका पुरुष था वह बोला कि हम लड़ेंगे और एक ही मिनटमें पछाड़ देंगे पर एक शर्त है कि हम और यह जब अखाड़ेमें दोनों उतरें तो यह गिर पड़े। अरे तो किया क्या? हम अपने बलको प्रकट न करें और परवस्तुओंका यथा तथा परिणमन करनेकी चाह बनावें तो इसमें सिद्धि नहीं हो सकती है।

अपूर्वलाभके लक्ष्यमें प्राथमिक कष्टोंकी अवेदना— भैया! तुम्हें सदाके लिए संकटोंसे छूटना है और उसके अर्थ १०-५ वर्ष भी कष्ट नहीं सह सकते हो तो इतने उत्तम तत्त्वकी सिद्धि कैसे हो सकेगी? जैसे किसी बालकसे कहें कि तुम्हें लो मूंगफली खाना हो तो अभी ले लो और अगर रसगुल्ला खाना हो तो १ घंटा बादमें खाना। तो चतुर बालक तो यही कहेगा कि मैं १ घंटेके बादमें खाऊँगा पर रसगुल्ला ही खाऊँगा। आज तुम्हें विषय सुखसे आनन्द लेना हो तो उनसे चिपके रहो। अभी सुख उन विषयकषायोंसे मान लो और अगर मोक्षका आनन्द चाहिए तो तुम्हें गम खाना पड़ेगा यानि विषय सुखकी रति छोड़नी होगी। कुछ अपना विचार उदार बनाना होगा। जगत्के समस्त जीवोंके स्वरूपको भी यथार्थ तकना होगा। देखो सब जीव एक समान हैं। तू इतना आग्रह क्यों कर लेता है कि जो ये घरके दो चार हैं सो ही मेरे भगवान् हैं और बाकी तो कीड़े-मकौड़े हैं। जितनी करुणा और जितनी सेवा, जितना अपनेको न्यौछावर करना है इन दो चार मोही प्राणियों पर ही क्यों किया जा रहा है और जगत्के जीव ये सब भी तो तेरे ही समान हैं। अन्तरमें दृष्टि क्यों नहीं जगती कि किसी क्षण संसारके सर्वजीवोंमें घुल मिलकर विश्राम पायें अर्थात् सबके स्वरूपमें अपने स्वरूपको मिलाकर अर्थात् उपयोग द्वारा केवल चैतन्य-स्वरूप ही पाकर विश्राम पायें।

दुर्लभ विवेककी उपयोगिता— भैया! आत्महितका तो खुला मार्ग है और बड़ी योग्य दशा भी आ गई है। मनुष्य हो गये, उत्तम देश, उत्तम कुल, उत्तम संगति, अच्छा वातावरण पाया है, ज्ञान भी खूब पाया है,

विवेक शक्ति भी पाई है, सब कुछ दुर्लभ समागम पा करके यदि हम अपने को कुछ न संभाल पायें तो फिर इसे कब संभाला जायेगा? सोचो तो सही। मनने जो हुकम दिया वही करना है। इसमें सार नहीं है। अनन्तकालकी जुम्मेदारी तो अपने आप पर है कि हम आगे किस प्रकार रह सकेंगे? यह सब कुछ हमारी वृत्ति पर निर्भर है। इन १०-५ वर्षोंके समागमसे तो पूरा न पड़ेगा।

गुप्तकी गुप्तरूपसे गुप्तमें गुप्ति— यह महान् अंतरात्मा पुरुष जो मोक्षतत्त्वका साधनतत्त्व हो रहा है वह वस्तुस्वरूपके ज्ञानमें महापंडित है। समस्त बहिरङ्ग अंतरङ्ग संगका परित्याग कर समस्त परपदार्थोंसे विविक्त शरीरसे भिन्न-भिन्न अन्तरङ्गमें सदा द्योतमान अनन्त शक्तिमय चैतन्यस्वभावका अनुभव करने वाला है और जिसका उपयोग जिसकी अन्तर्वृत्ति स्वरूपमें ही गुप्त हो गई है, जैसे कछुवा अपना मुख अपने भीतर करले तो वह कछुवा केवल ढाल जैसा पड़ा रहता है। उस पर लाठी भी बरसें तो उसके प्राण नहीं जाते हैं। यह जिन्दा कछुवाकी बात कह रहे हैं। वह कछुवा अपना मुख अपनी उस ढालकी तरह जो पीठ है उसके भीतर पूरा घुसेड़ लेता है। अब लाठी भी बरसें तो उसको मरनेका कुछ भय नहीं है। इसी प्रकार यह अंतरात्मा पुरुष अपने उपयोगको ढालमें गुप्त करले, छुपा ले, उसमें एकदम तेज सोया हुआ बन जाय तो बाह्य पदार्थोंका उसे भान नहीं है, वह विषयोंमें फिर रंच भी आसक्तिको नहीं प्राप्त होता।

संकटविजयकला— ज्ञानीके निकट सहज कला है, इन्द्रिय विषयों के जीतनेकी। विषय रहित ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वको उपयोगमें लेना यह है इन्द्रिय विजयकला। सो रंच भी विषयोंमें आसक्तिको न करते हुए समस्त अपने वीर्यको प्रकट करते हुए ये भगवान्, साधु संत मोक्षतत्त्वके साधनतत्त्व हैं। जैसे कोई वृद्ध महापुरुष अपने नाती, पोतोंसे पिट भी रहा हो, दुःख पा रहा हो, रोते हुए उस वृद्ध पुरुषको देखकर कोई जाता हुआ साधु पुरुष पूछे कि क्यों रो रहे हो? तो बताता है बच्चे घरमें ऐसा कुपूत पैदा हुए हैं कि हमारा ख्याल करना तो दूर रहा, वे हमारे सिर पर थप्पड़ मारते, मूंछ नोचते, हाथ मरोड़ते। तो वह साधु कहता है मत रोवो बाबा, मत रोवो, तुम्हारे सब क्लेश हम अभी मिटा सकते हैं। यह बाबा बड़ा खुश होकर बोला – आपको धन्य है महाराज! मिटा दीजिये मेरे क्लेश। इस बाबाने यह सोचा था कि यह मेरे इन बच्चों पर ऐसा मन्त्र मार देगा कि सब बच्चे फिर मेरे आगे हाथ जोड़े खड़े रहेंगे। साधु बोला कि यहां

से उठ चलो, चलो तुम हमारे साथ, तुम्हारे सब दुःख मिट जायेंगे। तुम अपना घर छोड़ दो, आरामसे हमारे संगमें रहो, तुम्हें कोई कष्ट नहीं होगा। तो वह बूढ़ा बाबा बोलता है कि चाहे नाती मुझे मारें, पीटे पर वे हमारे नाती ही रहेंगे, हम बाबा ही रहेंगे। हम तो उन्हें नहीं छोड़ सकते। सो कितने ही संक्लेश हों, दुःख हों मगर फिर भी उन्हींमें ही आसक्त हो रहे हैं, उन्हें छोड़ नहीं सकते हैं।

सत्यका आग्रह प्रथम कर्तव्य— भैया! इस संगके छोड़नेकी भी बात जाने दो, २४ घंटेमें सामायिक आदिमें ५ मिनटके लिए अपने सब भारको अपने समुदायको अपने चित्तसे हटा दें और अपने उपयोगको क्लियर बना लें, शुद्ध साफ बना लें, जहां दूसरी कोई गाड़ी न आती हो, कोई किसी परपदार्थका स्मरण न करें ऐसा भी चंद मिनट अपनेको बनानेका साहस नहीं हो सकता। भैया! केवल अपने विचारकी ही तो बात है। इसमें कोई झगड़ा भी तो नहीं फँसाना है, किसी दूसरेसे ऐग्रीमेण्ट भी तो नहीं लिखाना है। घर वही है, थोड़ी देरमें आप अपने घरके सब लोगोंसे आरामसे मिलो। आपके लड़के वहीं हैं, सब कुछ वहीं हैं, थोड़ी देरमें उन से लिपट जाओ, जितना जो कुछ करना हो करो, ५ मिनट तो अपने आप पर करुणा करके अपने हितमें अपने उपयोगको साफ तो बना लो। किसी परद्रव्यका वहां ख्याल न लावो। ऐसे अपने इस सत्यस्वरूपका आग्रह तो कर लो।

अन्तःस्वरूप दर्शन— यदि अन्तःस्वरूपके दर्शन कर सके तो यह आपके भीतरकी बात है। किसीसे कहने सुननेकी जरूरत नहीं है। न दिखाकर, बनाकर करनेकी यह बात है। किसीको तो पता ही न पड़ेगा। केवल अपने अन्तरङ्गमें अपने विचारोंको बनाना है और इस विचारके द्वारा अपने आपमें जो ज्ञान जगेगा उस ज्ञानसे एक बार भी यदि आत्म-स्वरूपका अनुभव हो जाय तो समझ लीजिए कि मैंने सब कुछ पा लिया। लाभकी चीज एक समय भी हो, एक दिन भी हो तो अनन्त कालोंकी कमाई पा लो। रोज-रोज लाभ नहीं मिला करता है, किन्तु हो तो कभी निज कारणपरमात्मतत्त्वका दर्शन। इस कुछ क्षणके लाभसे ही यह पुरुष कृतकृत्य हो जाता है।

अन्तरात्माका पुरुषार्थ— यह भगवान् शुद्ध अन्तरात्मा पुरुष अपने कैवल्यकी उपासना करने वाला है। यह शुद्ध स्वरूप है। अनादिकालसे विकट कर्मघटित चले आ रहे हैं। घटित शब्दमें रहस्य यह है कि हो गया, बन गया, आत्मविभावोंका निमित्त पाकर यह हो गया है। ऐसे विकट

कर्मरूप किवाड़ोंका विघटन करनेमें, तोड़ देनेमें अत्यन्त चतुर जिसका प्रयत्न है, वह है मोक्षतत्त्वका साधनतत्त्व। किसीकी प्रार्थनासे कर्म दूर नहीं होते हैं। अपने आपकी हिम्मत बनानेमें कर्म दूर होते हैं। एक था बनियेका लड़का और एक था क्षत्रियका लड़का। बनियेका लड़का तो पुष्ट था और क्षत्रियका लड़का शरीरसे कमजोर था। दोनोंमें छिड़ गई लड़ाई। तो बनियेके लड़केने क्षत्रियके लड़केको पटक दिया और शरीर पर चढ़ गया और बोला कहो अब क्या गति करूँ ? तो वह लड़का पूछता है, भला यह तो बतलावो कि तुम किसके लड़के हो ? बोला मैं बनियेका बेटा हूं। इतना सुनते ही उसके अन्दर जोश उमड़ा, अबे तू बनियेका बेटा है, उसने क्रांति मचाई और उसे पटक दिया। सो हे आत्मन् ! कर्मोंके संग्राममें अपना उत्साह तो प्रकट करो।

आत्मक्रांति— यहां कर्म और आत्माकी लड़ाई है। इस समय कर्म बड़े पुष्ट हो रहे हैं और यह आत्मा निर्बल हो रहा है। ये कर्म इसकी छाती पर बैठे हैं। आत्मासे बोलते हैं कि बोल तेरी क्या गति करूँ ? कहो पशु बना दूँ, कहो पक्षी बना दूँ, कहो नारकी कर दूँ। छाती पर कर्म चढ़े हैं। इस आत्मामें यदि सुबुद्धि जगी तो पूछा कि कहो तुम किसके बेटे हो ? और उत्तर यह मिल जाय कि हम जड़ पुद्गलोंके बेटे हैं और आत्माके सुमति जग जाय कि मैं तो सबसे अछूता, न्यारा, चैतन्य ज्योतिर्मय प्रभुस्वरूप हूं तो इसमें वह क्रांति आए कि उन कर्मोंपर सवार हो जाय। यही क्रांति तो इस मोक्षतत्त्वके साधनतत्त्वमें जग रही है।

भेद साधनतत्त्व व अभेद साधनतत्त्व— अनादिकालसे घटित विकट कर्मरूप किवाड़ोंका विघटन करनेमें समर्थ जिनका ज्ञानोपयोग बन रहा है उस ज्ञानोपयोगके द्वारा प्रकट किया जा रहा तत्त्व स्वर्णकी तरह स्वच्छ जो कैवल्यस्वरूप अर्थात् मोक्षतत्त्व, उसके साधक ये ही महापुरुष, संतपुरुष मोक्षतत्त्वके साधनतत्त्व हैं। उपादेयरूप मोक्षतत्त्वका साधनतत्त्व कौन है ? इस प्रश्नका यह उत्तर मिलता है। बाहरी चीजोंको हम क्या साधन बनाएँ ? ये तो सब प्रकट भिन्न हैं। आत्मसिद्धिका साधन तो आत्मपरिणाम ही हो सकता है। मोक्षतत्त्वके साधक परिणाम है— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र। शुद्ध आत्मतत्त्वमें रुचि होती तो सम्यग्दर्शन, शुद्ध आत्मतत्त्वका परिज्ञान करता। सो सम्यग्ज्ञान और शुद्ध आत्मतत्त्वमें उपयोगका स्थिर होना सो सम्यक् चारित्र है। यह सब मोक्षतत्त्वका भेद साधनतत्त्व है। सो आत्मस्वरूपमें यह जो दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी परिणति है, जिसे भेददृष्टिसे साधनतत्त्व कहा जाता है उस सबको

हम जुदा-जुदा कहीं पाते नहीं हैं। इस कारण अभेददृष्टिमें यह निर्णय है कि मोक्षतत्त्वका साधनतत्त्व ऐसी शुद्ध परिणतिमें परिणत साधुसंत अंतरात्मा ही है। इन्हें ही मोक्षतत्त्वका साधनतत्त्व समझिये।

मनोरथस्थानका निर्देशन— पूर्व प्रकरणमें अभी तक तीन रत्नोंका वर्णन हो चुका। एक संसारतत्त्व, दूसरा मोक्षतत्त्व और तीसरा मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व। अब इसके बाद चौथे रत्नका नाम आया है सर्वमनोरथ स्थानतत्त्व। जितने भी इष्ट हित प्रयोजन हैं सबके सब सिद्ध हो जायें, कोई बातकी कमी न रहे, आकुलतावों का नाम न रहे, पूर्ण आनन्द हो जाय ऐसा मनोरथ स्थान क्या है? इस रूपसे जो दृष्टिगत होगा उसे कहते हैं सर्वमनोरथ स्थानतत्त्व। ऐसा सर्वमनोरथ स्थानतत्त्व क्या है? मोक्षतत्त्वका साधनतत्त्व ही सर्वमनोरथ पूर्ण करनेका साधन है। इस प्रकार मोक्षतत्त्वके साधनतत्त्वको ही सर्वमनोरथ स्थानपनेके रूपसे अभिनन्दन करते हैं।

अभिनन्दनका दिग्दर्शन— अभिनन्दन किसे कहते हैं कि बात बताते हुए खुदमें भी आनन्दसे भरपूर हो जाना। कहना, बोलना, वर्णन करना, विवरण करना, प्रकट करना, प्रकाश करना, उद्योतन करना, उद्घाटन करना, आलक्षण करना, दिखना, व्याख्यान करना, श्रद्धान कराना, साधना, अवधारण कराना, आसूत्रण कराना, समर्थन करना, नियमित करना अनुशासन करना, व्यापार करना, उपदेश करना आवेदन करना, आलोचना करना निश्चय करना, निर्णय करना, प्रसिद्ध करना, उन्मीलन करना, खोलना, उपन्यस्त करना, उपलक्षित करना, उद्भावन करना, घोषणा करना, दृढ़ करना, विचार करना, अभिस्तुत करना, चिंतन करना, अभिनन्दन करना, व्यक्त करना, भावित करना इत्यादि शब्द कहने के अर्थ में प्रयुक्त होंगे। उन शब्दोंका रहस्य प्रकट किस-किस ढंगसे होता है? इन सब शब्दोंमें जुदा-जुदा कांति और रहस्य छिपा हुआ है। यहां कह रहे हैं कि उस मोक्षतत्त्वके शुद्ध तत्त्वका सर्वमनोरथोंके स्थान होनेके साधनरूपसे अभिनन्दन करते हैं मायने बोलते जाते हैं और आनन्द लूटते जाते हैं।

अभिनन्दनके प्रकाशका रूप— यों तो किसी भद्दे अर्थमें भी अनेक लौकिक शब्द हैं। बकना, कनकनाना, चिल्लाना, हल्ला मचाना, क्यों जी ऐसे भी तो शब्द होते हैं। इनमें भी जुदी-जुदी स्पिड है। यहां आचार्यदेव ने सुन्दर आशयसे जुदे-जुदे प्रकरणमें कहनेकी क्रियाको किन-किन शब्दोंमें कहा है? केवल यहां एक एक शब्द ही इतना रहस्य रखता है कि बड़े सम्राट् भी अगर इसके रहस्यको समझ पायें तो बोलने वाले के अथवा

मुनिराजके चरणोंमें लोट जायें—ऐसा मर्म भी इन शब्दोंमें छुपा हुआ है। अभिनन्दनका अर्थ है अपने आपके आत्माके सर्वप्रदेशोंमें समृद्धशाली बन जाना। जो अभिनन्दन करता है तो किसी महान् तत्त्वका अभिनन्दन करके अपने को पूर्ण धन्य समझना है तब अभिनन्दन बनता है।

मनोरथस्थानके अभिनन्दनका कारण—इस मोक्षतत्त्वके साधनतत्त्व की कहां तक महिमा कही जाय ? इसके अभिनन्दनका महात्म्य है। उस महात्म्यके अवगमसे सुपरिचित होकर यहां आचार्यदेव अभिनन्दन करते हैं। और यह ग्रन्थ पूरा होने वाला है। यह अंतकी गाथाके पहिलेकी गाथा है। तो जब कोई पूरा होता है तो वियोग होता है। शास्त्रका भी वियोग होगा। अब समाप्त होने को है। सो कुछ पहिले ही इसके ज्ञानसे तुष्ट और तृप्त होकर इस तत्त्वका आचार्यदेव अभिनन्दन करते हैं। अंतिम गाथामें तो समापन किया है और उससे पहिले अभिनन्दन किया है। इसके बाद जो गाथा आयेगी उसमें समापयति शब्द है। अब ऐसा कहा कि जसा कहनेके बाद अब कुछ नहीं कहना है। समाप्त होगा, इस रूपसे अंतिम गाथा आयेगी। यहां तो उस मोक्षतत्त्वके साधनतत्त्वका अभिनन्दन करते हैं।

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सोच्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥२७४॥

जो शुद्धपुरुष है, शुद्ध आत्मतत्त्व है, साधक परमयोगीश्वर है उसका श्रामण्य होता है और उसही शुद्धके दर्शन ज्ञान कहा गया है और उसही शुद्धके निर्वाण कहा गया है। वहीं शुद्ध मोक्ष साधन निर्वाण दशाको प्राप्त होकर स्वयं शुद्धस्वरूप होता है। उसके लिए मेरा नमस्कार हो।

मनोरथकी छांट एवं अभिनन्दनमें सम्मिलन—हे आनन्द चाहने वाले मुमुक्षु जनों ! तुम्हें क्या चाहिए ? छटनी करलो। इस जगतमें सर्व पदार्थ मौजूद हैं। जीव अनन्त हैं, उनसे अनन्तगुणे पुद्गल हैं। धर्म अधर्म, आकाश एक एक हैं और कालद्रव्य असंख्यात हैं। क्या चाहिए तुम्हें ? आप सब भी इस तत्त्वका अभिनन्दन करते हुए सुनिए। आनन्द में मस्त होकर सर्वजगतके पदार्थ असार हैं। इसलिए किसीमें भी दृष्टि न देकर अपने उपयोगको अत्यन्त शुद्ध बनाकर इस अभिनन्दनमें शामिल होइए। आचार्य महाराज तो अपने ऊँचे ढंगका अभिनन्दन करते ही रहते हैं। उनकी होड़ हम कैसे कर सकते हैं ? पर हम ही अपनी शक्तिके अनुसार उस कल्याणतत्त्वके अभिनन्दनमें शामिल हों।

प्रभुताका चमत्कार—भैया ! केवल सुनना ही नहीं है। क्या चाहिए

मुमुक्षुजनों ? इस लोकमें अनन्त जीव हैं, तुम जिस जीवको चाहो सो उससे खब मोह करलो। आखिर तुम प्रभु हो ना हो ना ? सो बहुतसे जीवोंका संग मिल जायेगा, कुछ कठिन नहीं है। तू तो अनन्त ज्ञानशक्तिका धारी है और तू यदि किसी अन्य जीवोंसे अत्यन्त दृढ़ प्रेम रखता है तो तुझे वे जीव मिल जायेंगे। घबड़ाना नहीं ! हां चाहे किसी भी ढंगसे मिलें ? ढंगका ठेका नहीं लिया जा रहा है। पर जिस जीवसे तू मोह करेगा, आसक्त होगा, अपने प्राण गँवाता रहेगा तो आखिर तू प्रभु ही तो है। तेरे मनकी बात कैसे न सिद्ध होगी ? मिल जायेंगे वे जीव जिनसे तू मोह करता है। अब चाहे वे पेड़ बनकर मिल लें, चाहे पशु पक्षी आदि बनकर मिल लें, चाहे किसी रूपमें मिल लें और यदि गांठमें पुण्य है तो चाहे देव देवी बनकर मिल लें। मिल अवश्य जायेंगे, तड़फनेकी जरूरत नहीं है।

प्रेमियोंसे एकमेक होकर मिलनेका फल— भैया ! यदि बहनोंको या अधिकाधिकों चाहते हो तो वे सब मिलेंगे, एक नहीं अनन्त मिलेंगे। तुम निगोद बनकर चले तो जावो, वनस्पति कायमें चले तो जावो, वे अनन्ते मिलेंगे, अवश्य मिलेंगे और यहां तो न्यारे-न्यारे बनकर मिल रहे हो और जुदा-जुदा परिणमते हुए मिल रहे हो। निगोदमें तो अनन्त जीवोंका एक शरीर होगा। आजका प्रकरण बहुत आनन्ददायक है। क्या चाहिए तुम्हें? तुम्हें जीवकी मुहब्बत हो तो तुम्हें एक नहीं, अनन्त जीव मिल जायेंगे। एक शरीरके स्वामी बनकर मिल जायेंगे। पर यहां इतना भी जुदा क्यों रहते हैं कि पुत्रका शरीर वहां है और तुम्हारा शरीर यहां है। तुम्हें उसके प्रेममें आनन्द कैसे मिले ? तुम तो न्यारी जगह रह रहे हो और वह पुत्र न्यारी जगह रह रहा है। और प्रेम करते हो तो खूब करलो फल मिलेगा वैसा ही। एक शरीर रहेगा और उसके अनन्त निगोदिया जीव स्वामी हो जायेंगे।

क्या चाहिए तुम्हें— छटनी तो करलो। थोड़ा-थोड़ा तरसकर क्यों जीवन खोते हो ? ये पुद्गल चाहिए तुम्हें ? ये विषयोंके साधन तो चाहिएँ तुम्हें ? ये सब भी अनन्तगुणे तुम्हारे चिपके रहेंगे। इनसे तुम अपना कौनसा आनन्द निकाल लोगे ? ये सब जब होंगे तब क्लेशके कारण होंगे और फल भोग ही तो रहा है, शरीरके बंधनमें हुआ, कर्मोंके बंधनमें हुआ, विषयोंके बंधनमें हुआ। क्या चाहते हो ? यह तीन लोकके पुद्गलों का ढेर पूराका पूरा लगा हुआ है, रम जावो, जितना रम सकते हो और खूब रमो ३४३ घनराजू प्रमाण लोकमें कोई जगह फिर मत छोड़ो, खूब रम जावो, क्या चाहिए तुम्हें ? यह ज्ञानी जीव किसी अपूर्व मनोरथ साधन

तत्त्वका अभिनन्दन कर रहा है। इस आनन्दके लूटनेमें कोई टोक कर बाधा मत डालो। इन पुद्गलोंको चाहो तो सर्वलोकोंमें पुद्गलोंका ढेर लगा हुआ है।

अनर्थ चाहने वालोंकी चाहका प्रयोगरूप देने पर बुद्धिका ठिकाने आना— कोई लड़का पानीमें तैरनेकी, नहानेकी हठ करे और बापको पसंद न आए तो परेशान होकर गुस्सा होकर पहिले कहता है चल अच्छा तुझे खूब पानीमें डुबोकर नहलवा दें। तो वह बच्चा घबड़ायेगा और कहेगा कि हमें नहीं नहाना है। पहिले समयमें कुछ रूढ़ि थी कि यदि पुरुष और स्त्रीमें कोई झगड़ा हो गया तो स्त्री प्रायः यह कहती थी कि हम कुवेंमें गिरकर मर जावेंगी और यदि पुरुष हाथ पकड़ कर ले जाए। रस्सेमें बांध कर ले जाये कि अच्छा चल तुझे कुवेंमें डुबो दें तो वह कहती थी अच्छा नहीं गिरूंगी।

प्यारकी जोरावरीमें ऊब— तो क्या चाहिए तुम्हें? जीवका प्यार चाहिए? लो करलो प्यार अनन्त निगोदिया जीवोंके साथ। तुझे पुद्गल का प्यार चाहिए तो ले भरे हैं तीन लोकके पुद्गल। जाकर करलो सर्वत्र जन्म ले लेकर सब स्कन्धोंसे प्यार। उन समस्त पुद्गलोंसे अनन्तकाल तक प्यार करते जाना तुम्हें पसन्द है क्या? खूब छान डालो दुनिया, किसी भी पदार्थमें सार नजर न आयेगा। सब असार है। सब जगह पहिले घूम आवो और सबके फलका विचार पहिले करलो। पश्चात् अपनी छांट बतलावो तो सही कि क्या चाहिए?

ज्ञानीके मनोरथकी भूमिका— ज्ञानीका उत्तर मिलता है कि हमें किसी जीवका प्यार न चाहिए। उसका फल तो नर्क, तिर्यन्च निगोद जैसे दुःखोंका भोगना है। किसी पुद्गल पदार्थका प्यार न चाहिए। वे जड़ हैं, उनके प्यारसे उनका तो कुछ नहीं बिगड़ा पर इसने अपने चैतन्य प्राणका घात कर डाला। अनन्त संसारमें रुलता रहेगा। पुद्गलका भी प्यार नहीं नहीं चाहते। तब क्या रहा अब? धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य इन का तो परिचय ही नहीं है। इनसे तो कोई वास्ता या व्यवहार नहीं चलता है। इनसे तो कोई अड़चन भी नहीं मालूम होती है। इन्हें क्या चाहा जाय? और ऐसा ही होता है कालद्रव्य। तो अब क्या चाहिए बतलावो? तूने अनन्त जीवोंको मना कर डाला, अनन्त पुद्गलोंको मना कर दिया, धर्म, अधर्म, आकाश कालको मना कर दिया। मना तो तू सब कर चुका, अब बिना मनाके भी कुछ रहा क्या? वहां स्वयं आत्मतत्त्व रहा। कैसा आत्मतत्त्व रहा? सो उसको अब दो रूपोंमें देखिए।

आत्मतत्त्वके दो रूपोंमें एक मनोरथ स्थान— एक तो अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण चैतन्यस्वभावमय परमपारणामिक भावरूप और दूसरा यों निरखिये कि इस ही पवित्र तत्त्वकी उपलब्धिके लिए जो क्षमापूर्ण धीरतासहित रागद्वेषरहित जो ज्ञानका ज्ञानमें उद्यम चलता है एक उस रूपमें परिणत आत्मतत्त्व है। सो जैसे धर्मद्रव्य आदिक से कोई व्यवहार नहीं चल पाता, इसी प्रकार मुझमें मूलभूत बसा हुआ परमपारणामिक भावमय आत्मतत्त्वसे वह व्यवहार नहीं चलता पर, उस आत्मतत्त्वका आश्रय करके यह श्रामण्यरूप व्यवहार चलता है। तब क्या चाहिए, एक शब्दमें बतलावो ? श्रामण्य चाहिए।

सर्वस्व भेंट और छटनी— यह श्रामण्य साक्षात् मोक्षका मार्ग है। इस श्रामण्यके सम्बन्धमें इसी अधिकारमें शुभोपयोगके प्रकरणसे पहिले बहुत वर्णन आ चुका है। संक्षेपमें श्रामण्यका अर्थ यह कह लो कि जहां शुद्ध परमपारिणामिक भावमय आत्मतत्त्वपर दृष्टि रहा करती है, इष्ट अनिष्टकी कल्पनाकी जहां गंध नहीं बसा करती है, रागद्वेषका जहां कुछ भी उदय नहीं है, सर्वपदार्थोंसें वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे पूर्ण समता परिणाम जगा है ऐसा जो आत्माका शुद्ध परिणमन है उसका नाम है श्रामण्य। तुम्हें राग आगकी ज्वाला पसंद हो तो उसके लिए यह सारा संसार समक्ष उपस्थित है, भेंट है और तुम्हें स्वाधीन निर्मल ऐसा श्रामण्य पसंद है तो इस ओर आवो। सर्वमनोरथोंका स्थान यह श्रामण्य है, जो साक्षात् मोक्षका मार्गभूत है, जिसका दिव्य स्वरूप है जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी एकता रूप है।

मनोरथ स्थानका एक स्वरूप — इस सहजशुद्ध, सहजसिद्ध, सहजमुक्त, सहज आनन्दमय इस तत्त्वके श्रद्धान् और इस ही आत्मतत्त्वके ज्ञान और इस ही आत्मतत्त्वमें रम जाने रूप परिणतियोंका एकाग्रतारूप यह श्रामण्य है, जहां आनन्द ही आनन्द झरता रहता है। आकुलतावोंका वहां कोई काम नहीं है। "जिन शिव, ईश्वर, ब्रह्मा, राम। विष्णु, बुद्ध, हरि जिसके नाम॥ राग त्यागि पहुंचूँ निज धाम। आकुलताका फिर क्या काम॥" जिस आत्मतत्त्वके ये नाम हैं, जिन शिव आदि मुझसे अलग कोई चीज नहीं हुआ करती है। जिन आदि सब ऐसा ही आत्मस्वरूप है।

जिन आदि शब्दोंमें आत्मरहस्य— जो रागद्वेष आदि विभाव शत्रुवोंको जीत ले उसको जिन कहते हैं। यह जिन नाम इस निज आत्मा का है। शिव जो कल्याणमय है, स्वच्छ है, आनन्दमय है, वह शिव है।

ऐसा तत्त्व इस लोकमें अन्यत्र कहां है ? यह शिव उसका ही नाम है। ईश्वर जो सृष्टि करनेमें स्वतन्त्र हो उसको ईश्वर कहते हैं। यह मैं आत्मा सृष्टि करनेमें पूर्ण स्वतन्त्र हूं अर्थात् निश्चय दृष्टिसे निरखो मैं अपनेको अपने लिए अपने द्वारा अपनेमें अपने से ही रचता रहता हूं। यह ईश्वर मुझ आत्माका नाम है।

ब्रह्मा व ईश्वर शब्दके वाच्यका अन्तःप्रदर्शन-- ब्रह्मा, ईश्वर व ब्रह्मामें इतना अन्तर है कि ब्रह्मा शब्दमें तो रचनेकी प्रधानता है और ईश्वर शब्दमें स्वतंत्रताकी प्रधानता है, यानि रचनेके काममें उसे दूसरोंके मुखकी उपेक्षा नहीं करनी पड़ती है। जैसे किसी धर्ममें कहते हैं एकने कहा कुत्ता एकने कहा कान, पैदा करो, पैदा किया, ऐसी भी जिसके अपेक्षा नहीं है, जो केवल अपने ही साधनसे अपना परिणमन किया करे उसे कहते हैं ईश्वर और जो रचा करे उसका नाम है ब्रह्मा। यह ब्रह्मा भी कहीं अन्यत्र नहीं है। मैं ही सृष्टियोंको रचा करता हूं।

राम, विष्णु, बुद्धका अन्तःस्वरूप-- राम भी यह आतम राम है। जहां संयमीजन रमण किया करते हैं उसका नाम है राम। ये योगीजन किसमें रमण किया करते हैं ? इसी शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें। इस ही पारिणामिक भावमें इस ही रूप तो मैं सहज हूं। विष्णु, जिसका विस्तार हो उसको विष्णु कहते हैं। यह आत्मतत्त्व ज्ञान द्वारा सर्वत्र लोक और अलोकमें व्यापक है। यह विष्णुतत्त्व मुझमें ही तो है। बुद्ध, जो ज्ञायक हो, ज्ञानी हो उसको बुद्ध कहते हैं। यह बुद्ध मेरा ही तो नाम है।

हरि, हरका प्रताप-- हरि, जो विभाव शत्रुवोंको हर लेवे, सो हरि है। कौन हरेगा मेरे विकार, मेरे समस्त पाप ? यह मेरा आत्मा ही हरेगा ? जो लोग हर, हर, हर, हर करके नहाते हैं उनका यही मतलब है कि मेरा सारा मल हटता जावे। वह हरि इस आत्माका ही नाम है। फिर जो पहिले हरि हुए हैं, राम हुए हैं वे इस चैतन्यस्वरूपके ही तो रूप हैं।

श्रामण्यका अभिनन्दन-- ये सब जिसके नाम हैं, ऐसे इस निजनाथमें सब कुछ त्यागकर पहुंच जाऊँ तो फिर आकुलतावोंका वहां कोई काम नहीं है। ऐसे पहुंचकी वर्तनाका नाम श्रामण्य है। वह श्रामण्य शुद्ध के ही होता है। यह अभिनन्दन चल रहा है परमतत्त्वका। तुम्हें क्या चाहिए ? वर्णन करो, सुनावो, बोलो और खूब आनन्दमें मग्न होओ। इस प्रकारके कहनेका नाम अभिनन्दन है।

मनोरथ स्थानका प्रथम प्रकार-- मनोरथ स्थानका यह प्रकरण चल रहा है। मनोरथ मनोकामनाको कहते हैं। मनकी ऊँची-ऊँची अभि-

लापाओंका नाम है मनोरथ। हमारा मनोरथ क्या है? उत्कृष्ट मनोरथ। सोचना और मनोरथकी पूर्तिका साधन कौन है? यह भी सोचना। इस सम्बन्धमें बताया जा रहा है कि हमारे मनोरथ हैं तीन प्रकारके। तीन नहीं हैं, मनोरथ तो एक ही होता है और उस एक मनोरथके निकट-निकट वाले तत्त्व कितने ही प्रकारके हो जायें वे मनोरथकी व्याख्याएँ कहलायेंगी। पर मनोरथ एक ही होता है। उस मनोरथकी व्याख्यामें कल एक बात कही थी कि हमारा मनोरथ है श्रामण्य। वह श्रामण्य शुद्धोपयोगीके होता है।

मनोरथस्थानका द्वितीय प्रकार— आज कह रहे हैं कि हमारा मनोरथ है दर्शनज्ञानाद्वैत। अपने आपके आत्माका यथार्थस्वरूपमें अवभासन होना और आत्मा व अनात्माका केवल ज्ञाता द्रष्टा रहना, इस स्थितिसे बढ़कर और मनोरथ क्या चाहिए? जैसे कहावतमें कहते हैं कि तुम्हें आम खानेसे काम या गुठली गिननेसे काम। तुम्हें आनन्द चाहिए तो देखो अलौकिक आनन्द शुद्ध ज्ञानदर्शनकी परिणतिमें है बाकी सब धोखा है। परिवारका संग, वैभवका संग लगने न दो क्योंकि ये कहींसे आए हैं और कहीं चले जावेंगे। वर्तमानमें भी जिनसे कोई सम्बन्ध नहीं है ऐसा यह सर्ववैभव है, सर्वपरिवार है, इन ही से तुम्हारा मनोरथ बन रहा है। अरे मनोरथ उसका बनावो जो सदा रहता हो और तुम्हारे अनुकूल रहता हो।

शाश्वत व अनुकूल मनोरथकी खोज— अब इन दो बातोंको जगत्के सब पदार्थोंमें ढूँढ़ लो। कौन पदार्थ तुम्हारे साथ सदा रहता है? कोई अणु आपके पास रह सकेगा? सारा धन, पुत्र, स्त्री, जिसका उपयोग राग की आगमें जलकर भुनकर खाक बने जा रहे हैं। ये कोई बाह्य पदार्थ साथ न रहेंगे। और जितने समय ये साथ हैं इतने समय क्या ये तुम्हारे अनुकूल हैं नहीं। जैसा अपना स्वभाव है, जैसी अपनेमें सहजकला है क्या उसकी हां में हां मिलाते हुए ये पदार्थ अपना सत्त्व रखते हैं? रंच भी अनुकूलता नहीं है किसी भी परद्रव्यमें। कदाचित् कोई बड़ा प्रेमी भाई पुत्र आपकी कल्पनाओंके मुताबिक शतप्रतिशत आज्ञाका पालन करता हो तो क्या वह भी आपके अनुकूल चल रहा है? नहीं। रंच भी नहीं चल रहा है।

अनुकूलकी व्याख्या— आपके गुण और पर्यायकी हां में हां मिलाकर कोई चल सके तो उसको अनुकूल कहना। यह तो अत्यन्त भिन्न पदार्थ है। समस्त जगत अनन्तानन्त, समस्त यह जीव लोक, ये कोई मेरे साथ नहीं रहने वाले हैं और न कोई ये मेरे अनुकूल हैं, फिर इनके विषय

में अपना मनोरथ बनाना मिथ्यात्व है, संसारजाल बढ़ानेका उपाय है। यह अध्यात्म उपदेश, यह गुरुजनों की बात देव, शास्त्र, गुरुकी विनयादिक वृत्ति यह सब यों ही फोकट नहीं है कि सुन लिया। या हम बड़े कुलमें पैदा हुए हैं तो हम लोगोंका यह काम है व इससे हम लोगोंका शृङ्गार है, शोभा है, इससे हम बड़े कहला सकते हैं। यह सब इस लिए नहीं है।

अध्यात्म उपदेश लेनेका प्रयोजन-- यह सब अपने उपयोगमें उतार कर अपना सदाके लिए भला कर जानेका उपाय बनाने के लिए है। जिस वस्तुका जिस प्रकार उपयोग होता हो उस प्रकारका उपयोग न करो और अन्य प्रकारका उपयोग करो तो यह करना न करना सब बराबर है। इन उपदेशोंका, इन भक्ति प्रसंगोंका उपयोग आत्मकल्याणके लिए है। इनका उपयोग लौकिक बड़प्पन बनानेके लिए, लौकिक सुख व मौज लूटने के लिए यदि किया जा रहा है तो कुछ भी उपयोग नहीं है। अनुपयोग है, दुरुपयोग है। इन सबका प्रयोजन आत्महितकी बात ढूँढ़ लेना है। इस जगतमें प्रत्येक द्रव्य असार है। जो शाश्वत हो, मेरे साथ रहता हो, मेरे अनुकूल हो, ऐसा तो मेरा स्वरूप ही है, जो मेरे साथ सदा रहता हो और मेरे अनुकूल रहता हो।

अपनी निधि संभालनेकी जिम्मेदारी-- हे ज्ञानमय प्रभु! ऐसे अमृत निधान अपने स्वरूपको सोचकर धन, वैभव इज्जत, पोजीशन इन विषयों का मनोरथ करे यह कुछ बुद्धिमानी है क्या? सोचो तो जरा। बड़ी जिम्मेदारी है तुझपर। निगोद, स्थावर, त्रस, असंज्ञी जीवोंसे छुटकारा पाकर मनुष्यपर्यायमें आये हैं। उत्तमदेश, उत्तम कुल, उत्तमधर्म प्राप्त किया है। यहां तेरी बड़ी जिम्मेदारी बन गई है। बड़े बनने पर बड़ी जिम्मेदारी आ जाया करती है। देखो जगतके सब जीवोंपर दृष्टिपात करो। तू कितने बड़े पदमें आ गया है? यदि अपनी जिम्मेदारी न अनुभव की, न अपना कलाकौशल ठीक रखा तो गैर जिम्मेदार बन जानेमें क्या फल होगा कि असंज्ञी बन जाना पड़ेगा। इस दुर्लभ समागमका सदुपयोग यह है कि इस से भी प्रीति तोड़कर एक शुद्ध सहज आनन्दस्वरूपमें प्रीति करो ना? देख तेरे साथ सदा रहने वाला और तेरे ही अनुकूल रहने वाला एक तेरा स्वरूप ही है। तू अपने इस स्वरूपकी दृष्टि कर। वह स्वरूप है दर्शन ज्ञानात्मक।

मनोरथस्थानाभूत ज्ञान दर्शनका स्वरूप-- तीन लोकका यह पोल पड़ा हुआ है, और तीनकालमें रहने वाले समस्त वस्तुवोंमें उनके अनन्त धर्मोंसे तादात्म्य रूपसे ये सारे पदार्थ स्थित हैं। उन सब पदार्थोंको एक

ही समयमें सामान्य विशेषरूपसे प्रतिभास करने में समर्थ दर्शन और ज्ञानोपयोग है। ज्ञानोपयोगका अर्थ है जानना। जगतमें जो पदार्थ जैसे अवस्थित हैं उनको उस प्रकारसे जानना और जानने वाले इन आत्मावों को छू लेना; अपने उपयोगको छू लेना, इसका नाम दर्शन है।

दर्शनका स्वरूप जाननेके लिये एक उदाहरण— जैसे हम अभी इस चौकीको जान रहे हैं। इसका जानना छोड़कर इस आलमारीको जानने लगें तो चौकीका जानना छोड़कर ही तो आलमारीका जानना बनेगा ना ? तो चौकीका जानना तो छूट गया और आलमारीका जानना न हो पाया, इस बीचकी स्थितिमें आत्माका दर्शन होता है। यह आपको विदित नहीं हो पाता है कि एक चीजका जानना छोड़कर दूसरी चीजको जाननेके बीच में कोई अन्तर भी हो जाया करता है क्या ? यह समझमें इस कारण नहीं आता कि ज्ञेयपदार्थमें चूँकि राग लगा है, आसक्ति लगी है सो एक ज्ञान छोड़कर दूसरा ज्ञान करने जा रहे हैं, उस बीच थोड़ा अन्तर पड़ता है पर वह प्रतीत नहीं होता है।

दो ज्ञानोंके मध्यका दर्शनरूप अन्तर प्रतीत न होनेका कारण— अरे किसी कामधंधेके प्रेममें किसी मित्र रिश्तेदारके प्रेममें आप यहांसे दौड़कर चल दें और सिर दरवाजेके ऊपर चौखटमें लग जाये तो उसको इसका भी पता न पड़ेगा। तो इस दर्शनका पता क्या पड़े ? कुछ नहीं पता पड़ता क्योंकि उस मित्रमें, उस काममें, उस लोभमें इतनी आसक्ति है कि दिल खिंचा चला जा रहा है। उसही और कुछ थोड़ा बहुत चौखट लग गया, किवाड़ लग गया तो उसका आपको पता नहीं पड़ता, फिर यह तो दर्शनकी बात है जो कि बड़ी ही सूक्ष्म है। ज्ञेयपदार्थोंमें लोभी पुरुषोंको इस दर्शनका क्या पता पड़ना है ? उन्हें तो ज्ञेयका प्यार चाहिए, आत्माका प्यार न चाहिए। जिन्हें आत्माका प्यार चाहिए उन्हें आत्माका दर्शन होना है और जिन्हें ज्ञेयका प्यार चाहिए उन्हें ज्ञेयकी ही लाठी घूँसे लगते हैं।

ज्ञेयके लोभीको दर्शनका पता न पड़ सकने पर एक दृष्टान्त— अपने-अपने उद्देश्यकी अलग-अलग बात होती है। जैसे एक पुरुषकी इच्छा हुई कि मैं धनी बन जाऊँ। लोगोंसे धनी होनेका उपाय पूछा। तो उसने कहा देखो ना मद्रासके समुद्रके निकट २-३ मील पर कोई पहाड़का टीला है उसमें पारस पत्थर भी है। यदि उस पारस पत्थरको पा लो तो फिर मनमाना लोहेका सोना खूब बना लो। सोचा, यह तो बहुत अच्छा उपाय है, चलें। वह गया वहां। पर उस पत्थरको कहां खोजे ? गाड़ियों पत्थरोंके ढेर थे। पारस खोजते कब बने ? जब लोहा सोना बन जाए। सो

उसने क्या तरकीब की कि कुछ पांच बैलगाड़ी पत्थर लेकर समुद्रके किनारे इकट्ठा कर दिया और समुद्रके किनारे पर लोहेका ४० सेर मोटा डंडा गाड़ दिया, जिसे लुहार लोग दुकानमें गाड़ते हैं। उसी प्रकारसे उसने वह लोहेका मोटा डंडा गाड़ दिया। इसे निहाई कहते हैं। अब उन पत्थरोंको क्रमसे मारना शुरू किया। वह पत्थर मारे और देखे कि सोना नहीं हुआ सो समुद्रमें पत्थर डालता जाय। फिर पत्थर मारा, देखा कि लोहेका डंडा सोना नहीं हुआ, उस पत्थरको समुद्रमें डाल दे। इस प्रकारसे सैकड़ों पत्थर उठाकर उसने मारे पर वह लोहा सोना नहीं हुआ। अब उसके मारने की गति और तीव्र हो गई। पत्थर मारे, देखे सोना नहीं हुआ, फेंक दिया समुद्रमें। इस तरहसे वह पत्थर मारे और फेंके। अब उसकी धुनि बन गई। वह पत्थर मारे और फेंके। इसी बीच उस पारस पत्थरको भी जल्दी से मारा और फेंक दिया। फेंक चुकने के बाद वह देखता है कि निहाई तो सोना बन गई। अब बड़ा पछतावा उसे हुआ। सोचा कि बड़ी कठिनाईसे हाथमें पारस पत्थर आया और वह भी चला गया। उसकी धुन तो मारने और फेंकनेकी बन गई थी। इसी प्रकार जिस पुरुषकी धुनि ज्ञेयपदार्थोंके लोभमें आ गई उसे दर्शनका पता नहीं हो सकता।

दर्शनोपयोगकी स्थिति— ज्ञेय पदार्थोंको छोड़-छोड़कर नये नये ज्ञेय जाननेमें जो ज्ञानकी प्रवृत्ति होगी उन दो ज्ञानोंके बीचमें अर्थात नवीन ज्ञानके पहिले दर्शन होता है, पर ज्ञेयके लोभीके उस दर्शनके विषयका ग्रहण नहीं हो सकता है। ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग बारहवें गुणस्थान तक क्रमसे होता है अर्थात् ज्ञानसे पहिले दर्शन होता है। मतिज्ञानके ६ भेद हैं स्पर्शन इन्द्रियज ज्ञान, रसना इन्द्रियज ज्ञान घ्राण इन्द्रियज ज्ञान, चक्षुरिन्द्रियज ज्ञान, कर्णइन्द्रियज ज्ञान और अनिन्द्रियज ज्ञान। इन ६ ज्ञानोंसे पहिले दर्शन होता है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र और मनसे उत्पन्न होने वाले ज्ञानसे पहिले अचक्षुदर्शन होता है और नेत्रइन्द्रियसे उत्पन्न हुए ज्ञान से पहिले चक्षुदर्शन होता है, श्रुतज्ञानके पहिले मतिज्ञान होता है, उस मतिज्ञानसे पहिले चाहे चक्षुदर्शन हो, और चाहे अचक्षुदर्शन हो, दर्शन होता है। यह सब ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है। पर दर्शनकी स्थितिका ग्रहण हो जाय, दर्शनने जिसको छुवा है उसके बाद प्रत्यय हो जाय, अवलोकन हो जाय तो उसके सम्यग्दर्शन हो जाता है। ज्ञान प्रतिभासित करता है पदार्थोंको। चतुष्टयस्वरूपको और दर्शन प्रतिभासित करता है इस ज्ञानी आत्माको।

द्वितीय मनोरथ स्थानका परिचय— अब पहिचानो इस लोकमें

मेरे मनोरथके योग्य कौनसा पदार्थ है। यह परिवार स्नेह और यह विभाव प्रीति ये सब मनोरथके योग्य नहीं हैं। ये तो संसारमें रुलाने वाले हैं। मनोरथके योग्य तो तेरा यह दर्शन ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान समस्त भूतकाल की पर्याय होने वाली वर्तमान पर्यायें और क्या होंगी ऐसी भविष्यकी पर्यायें उन सबको जानता है। उन सबको अलग-अलग ढंगसे जानता है, उन पर्यायोंमें परिणत पदार्थोंको जानता है तथा ऐसे ज्ञानपरिणत आत्मा का प्रतिभास दर्शन करता है। ये दर्शन ज्ञान आपकी अमिट निधि हैं। तथा इनका अविनाभावी आनन्द भी आपकी अमिट निधि है। ये तुम्हारे मनोरथके स्थान हैं। यह ज्ञान तत्त्व समस्त पर्यायोंसे करम्बित अन्वयात्मक पदार्थोंको जानता है। अब जरा इस पर विचार करें कि ज्ञान केवल रूप आदि पर्यायोंको जानता है या रूपादिमय पदार्थको जानता है?

केवल पर्यायका अभाव और उसके ज्ञानका अभाव— आपसे कहें कि इस चश्माघरको मत देखो किन्तु इसका रंग देखो तो क्या बिना चश्मा-घर देखे इसका रंग देखा जा सकता है? नहीं। ऐसी कला आपके पास है क्या? ऐसी कला नहीं है। किसी भी पदार्थकी मात्र पर्याय देखो किन्तु उस द्रव्यको मत छुवो, उस पदार्थको अत्यन्त भिन्न रूपमें निरखो ऐसी कला है आपके क्या? नहीं है। क्योंकि पर्यायकी सत्ता अलगसे नहीं है। आप तो सत्‌को ही जान सकेंगे, असत्‌को न जान सकेंगे। पदार्थको जब पर्यायमुखेन जानकारी करते हो तब कहा करते हो कि हमने तो सिर्फ पर्याय देखा, पर केवल पर्याय कोई नहीं निरख सकता है। पर्यायकी मुख्य-ता से पदार्थको देखा है। इस समस्त पर्यायोंसे करम्बित विचित्र परिणत वस्तुमें अन्वयरूपसे रहने वाले पदार्थ अर्थात् द्रव्यपर्यायात्मक पदार्थ, ऐसे ऐसे जगतमें अनन्त पदार्थ हैं।

द्वितीयमनोरथ शाश्वत स्वरूप— अनन्तानन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य इन सबका समूहात्मक इस समस्त विश्वका सामान्य प्रतिभास करना ऐसा तो दर्शन और विशेष प्रतिभास करे ऐसा है यह ज्ञान। यह देख आत्मन्! तेरा ही स्वरूप है तेरे साथ सदा रहने वाला है और सदा तेरे अनुकूल है। तुझमें बाधा डालनेके लिए यह नहीं है। तेरे स्वरूपका समर्थन और विकासतत्त्व रखने के लिए है यह। सो अपने इस दर्शन ज्ञान स्वरूप का मनोरथ करो, अन्य पदार्थोंका मनोरथ मत करो। सामान्य प्रतिभासा-त्मक पदार्थको सामान्यरूपसे प्रतिभासना सो दर्शन है। सामान्य विशेषा-त्मक पदार्थको विशेषरूपसे प्रतिभासन सो ज्ञान है।

अविनाभावी सामान्य व विशेष तथा उनकी प्रतिभासिनी कला— पदार्थ सब सामान्यविशेषतात्मक होते हैं। मैं मनुष्यत्व सामान्य नहीं हूं तो बालक, जवान, बूढ़ापन कहां विराजेगा ? आपमें बालक, जवान, बूढ़ापन न हो तो फिर वह मनुष्यत्व कहां रहेगा ? मनुष्यत्वके बिना बालकपन, जवानपन और बुढ़ापा ये अवस्थाएँ नहीं हो सकतीं। तो जैसे ये सामान्य और विशेष मिले हुए हैं, सामान्यविशेषात्मक ही यह इन्सान बना हुआ है, इसी प्रकार जगतके जितने भी पदार्थ हैं वे सब सामान्यविशेषात्मक हैं। इन पदार्थ स्वरूपोंमें से पदार्थोंके सामान्य देशको जानना सो दर्शन हुआ और विशेष अंशका जानना ज्ञान हुआ, ऐसा नहीं है, किन्तु सामान्यविशेषात्मक समूचे पदार्थोंका सामान्य प्रतिभासन है, सो दर्शन है और यह दर्शन और ज्ञानकी कला बाहर नहीं है। यह तेरी सहज कला है, तेरा स्वरूप है। तू चैतन्य स्वरूप है। ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोग रूप है। अपने इस स्वरूपके द्वारा ही तू समस्त पदार्थों को प्रतिभासता रहता है।

अपने परिणामके संभालनेकी प्रेरणा— भैया ! अपने ही भावोंको संभाल। इस निधिके संभालने पर तू तीन लोकका अधिपति बनेगा और अपनेसे बाहर पड़े हुए इस वैभव और इन मोही जीवोंको संभालनेसे तू दरिद्र रहेगा और जन्म मरणके चक्रमें पड़ा रहेगा। क्या मनोरथ है तेरा ? जन्म जन्ममें नये-नये शरीर पायें और मरण करें और जीवनकाल में अनेक संकट भोगें क्या यही है तेरी मनोकामना ? नहीं है, तो ऐसा प्रयोग मत करो। पापोंका फल तो पसंद नहीं और पाप करना छोड़ते नहीं। अरे यदि पापोंका फल नहीं पसंद है तो पाप करना छोड़ो। यह सब पापोंका फल है। इन दृश्यमान् पदार्थोंका जो आकर्षण है वह सब पापोंका फल है। जितना यह दृश्यमान् सब कुछ हस्तगत है यह सब पापों का फल है। उन सब पापोंमें प्रधान पाप है, मिथ्यात्व, मोह। ये व्यर्थका कलंक है।

मोहकलंकके मिटने पर कर्मभावका हटाव— पदार्थ सब स्वतन्त्र हैं। इसलिए किसी पदार्थसे किसी दूसरे पदार्थका रंच भी सम्बन्ध नहीं है। और फिर भी उसे अपना मानना यह जीवपर बहुत बड़ा कलंक लगा है। इतना बड़ा कलंक है कि यदि यह कलंक मिटे तो आप समझ लीजिए कि इस कलंकमें रहते सहते जितने कर्म थे, सोलह आने समझ लीजिए, कलंकके मिटने पर बारह चौदह आने कर्म ध्वस्त हो जाते हैं। चाहे आप गृहस्थ हैं, पर कलंकके मिटने पर ७५–८० प्रतिशत कर्म दूर हो जाते हैं।

करणानुयोगके जानने वाले समझते हैं कि कर्मोंका कूड़ा कचरा मिथ्यात्व के विनाशके समय ही अधिक निकल जाता है। फिर थोड़ा ही कूड़ा रह जाता है।

सम्यक्त्वकी महिमा व ज्ञान दर्शन गुणकी भावना— अब सम्यक्त्वकी महिमाका इस प्रकारसे भी अंदाज कर लो कि मिथ्यात्वके रहते हुए तो अनन्त संसार तक रुलनेकी कल्पना है और मिथ्यात्व नष्ट हो जाने पर यदि मिथ्यात्व नहीं आ पाता है तो ज्यादासे ज्यादा १३२ सागर तक रुल सकता है और सम्यक्त्व छूट जाय और मिथ्यात्व आ भी जाय तो भी अर्ध पुद्गल परिवर्तनसे अधिक नहीं रह सकता है। अनन्त कालके संसारका विच्छेद हो गया जिस कलंकके नष्ट होने पर समझ लो वह कलंक कितना जबरदस्त कलंक है? जिसमें प्रीति कर संसारके प्राणी इन सब व्यवहारकलंकोंको बढ़ा लेते हैं, ये मनोरथके स्थान नहीं हैं। मनोरथ का स्थान तो तेरा दर्शन और ज्ञान है। इस दर्शन और ज्ञान गुणकी भावना करो। यह दर्शन और ज्ञानका उपयोग, विकास शुद्ध आत्माके ही होता है, शुद्धोपयोगीके होता है और वही महान् आत्माका मनोरथका स्थान है।

तृतीय मनोरथ स्थान— यह मनोरथ स्थानका अभिनन्दन चल रहा है। इस प्रकरणमें दो स्थानोंको बना दिया। पहिला स्थान तो है श्रामण्य और दूसरा स्थान है दर्शनज्ञानात्मक आत्मतत्त्व। अब आज तीसरे स्थान का वर्णन करेंगे। इसका नाम है निर्वाणतत्त्व। सर्वोपरि मनोरथका स्थान निर्वाण ही है और इस निर्वाणको स्वामीकी मुख्यतासे वर्णन करेंगे कि वह निर्वाण शुद्धोपयोगीके ही होता है। निर्वाण क्या चीज है कि बाधा और व्यघात रहित बढ़ता हुआ अथवा बढ़ चुका जो सहज ज्ञान और आनन्द है उस उत्कृष्ट ज्ञान और आनन्दसे मुद्रित (प्रिन्टेड) जो द्रव्य स्वभाव है, आत्मस्वभाव है उसे कहते हैं निर्वाण।

निर्वाणकी व्याख्या— कर्मोंसे छूट जाना, शरीरसे छूट जाना, यह निर्वाणकी विध्यात्मक व्याख्या नहीं है। ये तो विशेषताओंसे है कि निर्वाण में होता क्या है? पर निर्वाणका यह स्वरूप नहीं है कि कर्म दूर हो गए, यह निर्वाणकी व्याख्या नहीं है। निर्वाणकी व्याख्या है कि जहां निर्विघ्न-ज्ञानानन्द स्वभाव बढ़ चुका है ऐसी स्थितिको कहते हैं निर्वाण। वह निर्वाण शुद्धोपयोगीके ही होता है।

गाथा नम्बरका प्रथम गणित— यह गाथा है २७४ नं० की। इसमें तीन अंक पड़े हैं। २, ७, ४। इन्हें अलग-अलग रख लीजिए और फिर गणित लगाइए। २ और ७=९ तथा ९×४=३६। जो इस जगत्में ३६

बनकर रहेगा उसे इस गाथाका मर्म विदित हो सकता है। संसारके आसक्त प्राणियोंको इन मनोरथोंके मर्मका क्या अनुभव है? जो संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त है वह ही आत्माका परमपद निश्चित कर सकता है। जैसे एक म्यानमें दो तलवार नहीं समाया करती हैं, एक मुसाफिर दो दिशावोंमें एक बारमें गमन नहीं कर सकता है। एक सूई कपड़ेको एक चालमें दोनों ओर सिलनेमें समर्थ नहीं है। इसी प्रकार एक उपयोगमें निर्वाणकी पद्धति और संसारकी पद्धति एक साथ दोनों नहीं विराज सकती हैं। इस कारण जो मोक्षपद्धतिका उपयोग बनाए हैं उन्हें मोक्षका मर्म विदित होगा और जो संसार पद्धतिका उपयोग बनाए हैं उन्हें मोक्ष स्वरूप विदित नहीं होता।

गाथा नम्बरका द्वितीय गणित— इस गाथाका नम्बर है २७४। गणित देखिए। २×७=१४+४=१८। यह १८ दोषोंसे रहितकी बात चल रही है। यह निर्वाणस्वरूप जन्म जरा आदिक १८ दोषोंसे रहित है, निर्दोष है, शुद्ध है। इस शुद्धको हम दो तरहसे देख सकते हैं। एक अशुद्ध बना करके शुद्धको मेटकर और दूसरे मूलसे ही सुलक्षण दृष्टिसे देखकर। तो चूंकि निर्वाण शुद्ध जीवके होता है तो उस निर्वाणको तकिये कि उस का क्या स्वरूप है? जहां जन्म नहीं, जरा नहीं, बुढ़ापा नहीं, कोई प्रकार का ऐब नहीं है उसे कहते हैं निर्वाण। इतना भी लक्ष्य है, १८ प्रकारके दोषोंसे रहित होकर अपने शुद्ध विकासकी प्राप्ति करना चाहिए।

गाथा नम्बरका तृतीय गणित— इस गाथाका नम्बर है २७४। २+७=९ और ४=१३। यह तेरा ही तो मनोरथ है। इस गाथामें जो बात बताई गई है वह तेरा ही तो स्वरूप है, तेरा ही यह श्रामण्य है। समता परिणाम कुछ तुझसे जुदा नहीं है। तेरा ही यह दर्शन ज्ञानस्वरूप है। तू इस ही रूपमें अपना अस्तित्त्व रखता है और यह निर्वाणस्वरूप भी तेरा ही स्वरूप है। तुझसे भिन्न यहां कोई मनोरथ नहीं है, तेरी ही बात यहां कही जा रही है। उसे रुचिपूर्वक निरखें तो ये सब बातें तुझमें स्थान पाती जावेंगी।

गाथा नम्बरका चतुर्थ गणित— इस गाथाका नम्बर है २७४। २×७=१४×४=५६। इस मनोरथ स्थानका मर्म जिसने जाना है वह ही पुरुष तीर्थंकर जैसे महान् पदमें गमन करता है। उसके गर्भकालमें, जन्मकालमें उसकी माताकी ५६ कुमारियां सेवा किया करती हैं। इतने मर्मके अनुभवीका कितना सत्कार होता है कि उसके प्रतापसे उसको उत्पन्न करने वाली माताकी भी सेवा होती है, पिताका भी आदर होता है।

निर्वाणका पात्र — यह निर्वाण शुद्धोपयोगी मुनिके ही होता है, जिसे सदाके लिए सिद्ध होना है। उसकी मूल नींव है कि राग न हो सके। मुक्तिका कारण शुद्धज्ञानस्वभावका अवलम्बन है। जहां रागका लेश भी नहीं है वह ज्ञानस्वभाव आपका आपमें विराजमान है। यदि कोई निहार सके तो निहाल हो जायेगा। निहाल क्या है? निहार ही तो है। शुद्धतत्त्व के निहारमें ही यह जीव निहाल हो सकता है पर इसको निहारने के लिए ज्ञानकी तो थोड़ी आवश्यकता है पर अधिक-अधिक आवश्यकता है स्वरूपाचरणकी। अर्थात् सर्वसंकल्प विकल्प छोड़कर केवल एक निज शुद्ध-आत्मतत्त्वका उपयोग बनानेकी महिमा है सब।

ज्ञानके उपयोगसे ही सिद्धि— ज्ञानवाले बहुत होते हैं पर ज्ञानका उपयोग कर सके ऐसा कोई बिरला ही होता है। जैसे लोकव्यवहारमें पढ़े लिखे बहुत होते हैं। अभी वकालत पास हो जाएँ, एम० ए० पास हो जाएं पर उसका उचित उपयोग हो सके लौकिक नाते से ऐसे बिरले ही निकलते हैं। यहां अध्यात्ममें भी धार्मिक ज्ञान करने वाले बहुत होते हैं पर उस ज्ञानको अपने अनुभवमें उतार सके ऐसा कोई बिरला ही हो सकता है। तो ज्ञानानुभवके लिए ज्ञानकी तो थोड़ी आवश्यकता है ही, पर उससे भी अधिक आवश्यकता अपनी संभालकी है। अपने उपयोग को अपनेमें जुटानेकी है, सहज चारित्रकी है। यह ज्ञानानुभव ज्ञानसाध्य है, सम्यक्त्व साध्य है और चरित्रसाध्य भी है।

अद्वैतसिद्धिका अद्वैतभाव साधन—भैया! जब ऐसी स्थिति हो जाती है कि जहां ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेयमें अन्तर नहीं रहता है वहां ही इतनी ध्यानाग्नि बढ़ती है, जिसके प्रतापसे कर्मोंका ध्वंस होता है। कवि पं० दौलतराम जी ने छहढालामें मुनियोंके चरित्रका वर्णन किया है। कैसे उठना, बैठना, प्रवृत्ति करना इस वर्णनके बाद उस स्वरूपाचरण चारित्रका वर्णन है, आत्मीय परमार्थ संयमका वर्णन है। और उस वर्णनमें बताया है कि जहां ध्यान, ध्याता, ध्येयमें, ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेयमें अन्तर नहीं रहता उसे कहते हैं परमार्थ चारित्र। इस चारित्रके प्रतापसे बताया है कि जब घातिया कर्म ध्वस्त हो जाते हैं तब अरहंत अवस्था होती है। अब चूँकि अरहंत परमात्मा हो गए सो कृतकृत्य हो गए, उनको करनेको कुछ काम नहीं रहा।

अरहंतपदकी लोकप्रियता—भैया! लोकपसंद पुरुष तो यह चाहेंगे कि हम अरहंत बनें तो अरहंत ही बनकर रह जाएँ। सिद्ध बननेमें क्या तत्त्व रखा है? अरहंतमें आनन्द वैसा ही है जैसा सिद्धमें है। और यहां दुनियांमें विहार होगा तो लोकमें चमत्कार, खलबली फोकटमें मिलती है।

जो सिद्धसे ज्यादा है पर लोक पसंदकी बात थोड़ी निभगी। वह अरहंत प्रभु ऐसा शुद्ध होता है कि जिसकी शुद्धताकी सीमा और बढ़ेगी। भाव शुद्धताकी सीमा तो बढ़ ही चुकी, अब द्रव्य शुद्धताकी भी सीमा पूर्ण होगी अर्थात् इस आत्मद्रव्यके साथ जो कर्म अभी बंधे हैं, शरीर अभी लगा है ये सब दूर हो जायेंगे इन्हें हटना ही पड़ेगा।

अरहंतकी दिव्यध्वनि आदि स्वाभाविक— अरहंत केवली भगवान् जो सूक्ष्म क्रिया प्रतिपादनी ध्यान करता है और व्युपरत क्रिया निवृत्ति ध्यान करता है वह क्या जानकर करता है ? क्या उपयोग लगाया करता है ? कुछ नहीं करता है। उनके जब जो होनेको चाहिए तब वह हो रहा है। उनकी दिव्यध्वनि खिरती है तो क्या उपयोग लगाकर खिरती है ? बुद्धि-पूर्वक खिराते हैं ? नहीं। ऐसा ही उनका वचन योग है और भव्य जीवों का भाग्य है जिस कारण दिव्यध्वनि स्वयमेव खिरती है। वह प्रभु किसी में उपयोग नहीं लगाता। उनका उपयोग है केवल ज्ञान और केवल दर्शन। तो केवल ज्ञान और केवल दर्शन उपयोग लगाने वाला उपयोग नहीं है। उनका उपयोग चलता रहता है। उपयोग वहां लगाया जाता है कि जहां कामको अभी करना न रहे और अब करना है वहां उपयोग लगाया जाता है। भगवान् अरहंत देव केवल ज्ञानके द्वारा समस्त विश्वको एक बारमें ही जान चुके हैं और उनके स्वच्छता ऐसी है कि ऐसा ही ज्ञान निरंतर प्रति समय चलता रहता है। उपयोग लगानेकी कोई वजह ही नहीं है। उनका उपयोग इस ही रूपमें फलित है। समस्त विश्वको उस-उस रूपमें अनन्तकाल तक जानते रहें, देखते रहें।

अरहंतदेवका विहार भी निरीहतापूर्वक— और तो क्या ? विहार तककी भी ऐसी ही बात है विधिपूर्वक या जानकर नहीं किया जा सकता और होता है क्या-क्या ? कोई एकदम यकीन नहीं कर सकता कि भगवान् समवशरणसे उठें और चल दें तो यों ही बिना सोचे चल दिया जा सकेगा ? उन्होंने सोचा होगा कि बहुत दिन हो गए अब यहांसे चलना चाहिए। ऐसा सोचे बिना कैसे विहार हो जाता ? सो बहुत बड़े आदमी की बात छोटे आदमी यहां भी नहीं जान पाते हैं। अभी यहीं एक करोड़-पति धनिककी बात एक खोंचा लगाने वाला क्या कुछ अंदाज कर सकता है कि कैसे क्या होता है ? यह तो लोककी बात है उन अरहंत भगवंतका विहार व दिव्यध्वनि कैसे हुई ? कब हुई ? यह सब एक अद्भुत बात है। कब चलें कहां चलें, ऐसी किसी भी बातका कोई नियम नहीं है, और वहां जो होना है वह होता है। ऐसा यह निर्वाण है।

सम्यक्त्व और केवलज्ञानकी मनःप्रियता— तभी तो जीवस्थान चर्चा पढ़ने वाले विद्यार्थियोंसे हम पूछते हैं कि तुम्हें कौनसा गुणस्थान पसंद है ? जो समझदार हैं, पढ़े लिखे हैं वे चौथे और तेरहवें गुणस्थान को पसंद करते हैं। चौथे गुणस्थानमें मौज इस कारण मानते हैं कि घरमें रहते हैं फिर भी ज्ञानी कहलाते हैं। प्रवृत्ति रहती है फिर भी सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं। और तेरहवां गुणस्थान इसलिए पसंद है कि सबसे ऊँचा है। सिद्ध भगवान् तो हम लोगोंकी लौकिक बिरादरीसे अलग हैं। इस दुनिया में जिसका विहार चल सके, जिसके दर्शन हो सकें, ऐसी स्थिति वाला कोई परमपद है तो वह अरहंत है। इस जीवमें बहुत कुछ सम्भव है कि अनेक बार समवशरणमें जाकर अरहंत भगवंतके दर्शन भी किये होंगे। अरहंत का दर्शन तो क्या किया होगा किन्तु उनके शरीरका दर्शन किया होगा। अरहंतके दर्शन कर लेने पर फिर संसारमें रुलना नहीं होता है। जो अरहंतदेवको सच निगाहोंसे परख लेता है, उनके द्रव्यको, उनके गुणोंको, उनकी पर्यायको निरख लेता है तो उसे संसारमें भटकना नहीं रहता है।

तत्त्वकी भावभासना— यह अरहंतदेव द्रव्यसे ज्ञानानन्द गुणका पिंड है और यह भाव भासना हो जाये इसीको ही जानन कहते हैं। आपके यहां जो बहुत समयसे नौकर रहता है और उसको किसी कामके लिए भेजें और एक आज ही नौकर आया हो, उसको किसी कामके लिए भेजें, उसे खूब समझा दिया, खूब सिखा दिया, फिर भी उस नये नौकरको उस कामके करनेमें कठिनाई पड़ती है, उसे वह काम अजीबसा दीखेगा और इस अनुभवी नौकरको घटनावों तक का भी पता है, परिचय है, सो उसे कोई कठिनाई उस कामके करनेमें नहीं होती है। नयेको कितना ही सिखावो, उसे कुछ भासना नहीं है, वह जानता नहीं है। इसी प्रकार जिसे आत्मभाव भासता है, वह अरहंतदेवको द्रव्यरूपमें निरख पाता है। जो वह द्रव्य है सो मैं हूं।

द्रव्य एवं पर्यायदृष्टिसे प्रभुसे निजकी तुलना— "मैं वह हूं जो है भगवान, जो मैं हूं वह है भगवान्।" यों निरखो गुणदृष्टिसे तो प्रभुमें और हममें समानता है। जो सहज शक्तिस्वरूप सत्त्वके कारणभूत ज्ञानदर्शन आनन्द आदिक गुण हैं सो इस दृष्टिसे जैसा वह है वैसा यह है। जैसा यह है वैसा वह है। अब पर्यायको निरखने चले तो "अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान।" यों निरखो। हां पर्यायकृत अन्तर तो है। वह तो वीतराग है और यहां रागका फैलाव है। यहां यह नहीं कहा जा रहा है कि यह रागवितान है। एक ज्ञानी पुरुष जिसने आत्माके

सत्यस्वरूपका परिचय पाया है वह यह भूल नहीं करेगा कि अपने बड़े प्रभुके सामने यह कह बैठे कि महाराज तुम वीतराग हो और हम रागी नहीं हैं।

भाव पर्यायका अन्तर— देखो कुछ अन्तरमें अलौकिक ही प्रयोजन रखने वाले भक्तजन प्रभुके आगे रागी न बनेंगे। यहाँ राग वितान, इस आत्मप्रदेशमें रागका फैलाव है। पर हे प्रभो! यह ऊपरी अन्तर है। कहीं यह प्रभु समझ ले कि यह तो अयोग्य भक्त है, यह तो विपरीत स्वभावी है, इसमें तो बड़ा अन्तर है। यह तो पिछड़ा हुआ आदमी है और फिर उद्धारसे बहिष्कृत हो जायें। सो महाराज यह तो ऊपरी अन्तर है अर्थात् क्षणिक अन्तर है, पर्यायमें अन्तर है पर स्वभावमें अन्तर नहीं है। अंतरङ्ग होता है स्वभाव और बहिरङ्ग होता है पर्याय। सो इस प्रकार पर्यायदृष्टिसे वह भाव भासनापूर्वक जो अरहंतको निरख लेता है वह पुरुष निर्वाणका पात्र है।

अरहतकी निहार निहालका कारण— जिसने समवशरणमें जाकर बढ़िया-बढ़िया बगीचा निरखा, ध्वजाएँ, खाइयां, देव देवियां देखीं, गंधकुटी देखी और वहां पर विराजमान वह पुतला भी देखा तो वहां अरहंतको नहीं देखा। भले ही समवशरणमें महावीरको देख चुका हो, त्रिसलानन्दन को देख चुका हो पर यदि अरहंतको न देखा तो महावीर त्रिसलानन्दन ये पार न करेंगे। वह तो असमानजातीय पर्याय है, पर महावीर और त्रिसलानन्दनके पर्यायमें रहने वाला जो आत्मा है उस आत्माको गुणोंका दर्शन हो तो वहां सम्यक्त्व होता है और निर्वाण उसी शुद्ध पुरुषके होता है।

चतुर्थ मनोरथ स्थान— यह प्रवचनसार ग्रन्थ है। इसकी यह द्विचरम गाथा है, अर्थात् आखिरी गाथासे पहिलेकी गाथा है। इसमें चौथे रत्नका वर्णन करते हुए सर्वमनोरथ स्थान बना रहे हैं, अर्थात् मोक्षतत्त्व के जो साधनतत्त्व हैं उनको मनोरथके स्थानके रूपसे अभिनन्दन कर रहे हैं। कहते हैं कि जो भगवान् सिद्ध हैं, वे शुद्ध ही हैं।

हितकारी प्रधान लक्ष्य— भैया! अपना चरम लक्ष्य क्या होना चाहिए? अपना प्रधान लक्ष्य क्या होना चाहिए? इस विषय पर विचार करो गम्भीरतासे, क्योंकि यह समस्या केवल जानने, सुननेकी नहीं है किन्तु अपनी भावी हालतोंकी समस्या है। हम सुखी रहेंगे या दुःखी रहेंगे या क्या बनेंगे? एक यह सबसे ऊंची समस्या है। यहां लोग छोटी-छोटी बातोंमें घबड़ा जाते हैं। जरासा उपद्रव हुआ, पैसा कम हुआ, कहीं अप-

मान हो गया, घरमें कोई गुजर गया, इन बातोंसे घबड़ा जाते हैं। देखो लोगोंमें ऐसी परम्परा है कि बड़े नुकसानके सामने छोटे नुकसान पर घबड़ाहट किसीको नहीं होती। हां जो नुकसान हुआ है उस नुकसानके मुकाबलेमें यदि कल्पनामें कोई बड़ा नुकसान न रहे तो घबड़ाहट हो जायेगी।

बड़ा नुकसानका मुकाबिला मनमें होनेसे छोटे नुकसानकी उपेक्षा— यदि आपकी समझमें यह है कि उस कारखाने में तो ५० हजारका टोटा पड़ गया है, सो इस काममें ५०० घट गए हैं तो क्या बात है? उसे ५०० का गम नहीं होता है क्योंकि उसके मुकाबलेमें बड़ा नुकसान सामने खड़ा है। पैसे को कौन खर्च करना चाहता है? पर घरमें कोई मनुष्य बहुत अधिक बीमार हो जाय, मरणकी सी स्थिति हो जाय तो उसके पीछे आप में जितना दम होगा? दस बीस हजार लगा बैठेंगे। १०–२० हजार का छोड़ो आप यों राजी खुशीसे किसी कामको ५०० भी नहीं दे सकते हैं और देने वाले दे सकते हैं। प्रायः की बात हमने कही। पर कोई इष्ट वियोग जैसी स्थिति सामने आए तो आप हजारों रुपया खर्च कर देंगे। वह हजारों रुपयोंका जो नुकसान है उसे आप कुछ न समझेंगे क्योंकि उसके मुकाबलेमें इष्टके मरणका नुकसान कल्पनामें है।

अपना बड़ा नुकसान— अब प्रकृतमें यों ही समझो कि एक बड़ा नुकसान आप अपनी कल्पनामें ले आवो। वह बड़ा नुकसान क्या है? अजी मरकर अगर कीड़ा मकौड़ा बन गए तो ये जो-जो नुकसान सामने हैं उन नुकसानोंसे यह क्या कम नुकसान है। ये १०—२० हजार घटते हों तो इस नुकसानसे वह नुकसान छोटा होगा क्या? नहीं। कीड़ा मकौड़ा बन गए, पशु पक्षी बन गए तो अब जरा कल्पनामें तो लावो कि यह क्या कम नुकसान है? इस धन वैभवके नुकसानमें क्या घबड़ाहट करें? ये तो मेरे क्षेत्रसे भिन्नकी बातें हैं। यों तो सब अलग हैं, भिन्न पदार्थ हैं। जैसी जिसकी कषाय है वह उस रूप परिणमता है। क्या नुकसान है इसको? इसको तो अपने हितकी धुनि बनानी चाहिए और हमारा आपका प्रधान लक्ष्य यह होना चाहिए कि हमारा जो सहजस्वरूप है, अपने सत्के ही कारण जो मेरा सहज स्वभाव है बस वही मेरा बना रहे। ये दंद फंद सब विपत्तियां हैं।

विनाशीक वस्तुकी प्रीतिकी अनर्थता— लो अभी कुछ और था, अब और कुछ आ गया है। तो ऐसे क्षणिक भावोंसे और पदार्थोंसे क्या प्रीति करना कि लो आए और अब गए। अध्रुव व भिन्न पदार्थकी प्रीति

के परिणामका बड़ा विकट दण्ड भोगना पड़ता है। नहीं है प्रीति तो स्वतंत्र हैं, आनन्दमें मस्त हैं। और किसी भी जीवसे, किसी भी वस्तुसे यदि प्रीति हो गई तो समझ लीजिए कि यह जीवन उस वस्तुका या जीव का दास बन गया। कौनसा जगत्में ऐसा पदार्थ है जो मेरी प्रीतिके लायक हो ? कुछ भी नहीं हैं। धन जोड़-जोड़कर रखा तो उससे कुछ पूरा न पड़ेगा। कुटुम्बमें बहुतसे जीवोंका संचय होने पर भी मेरा पूरा नहीं पड़ेगा। खूब सोच लीजिए और जो सही बात हो उसको अपनाइये। यदि कुटुम्ब धन वैभव, विषयकषाय इनका संग ही सही बात है और हितका कारण है तो इन सबको ही करिये।

हमारा प्रधान लक्ष्य शाश्वतस्वाधीन आनन्द— जीवको तो आनन्द चाहिए, उसे अन्यकी जरूरत नहीं है। भाई ! हमें तो न अहिंसाका धर्म चाहिए, न हमें रत्नत्रयका धर्म चाहिए, हमें तो आनन्द चाहिए। धर्मकी बात जाने दो। हमें तो ऐसा आनन्द चाहिए जो स्वाधीन हो और सदा रहता हो। हमें वह आनन्द नहीं चाहिए कि पराधीन हो और मिट जाय। यदि ऐसा आनन्द शाश्वत, स्वाधीन विषयोंमें मिलता है तो तुम जो ऐसा ही धर्म करना मानों तो विषयभोगोंमें ही धर्म करो। पर विषयभोगोंके कारण आनन्दका रहना तो दूर ही है बल्कि विपुल घबड़ाहट हो जाती है। देखो कोई भी विषय ऐसा नहीं है जो स्वाधीन हो और शाश्वत हो। खूब निगाह कर लो, तब स्वाधीन और शाश्वत आनन्द पानेके नाते से अहिंसा धर्मको पाल रहे हैं। ऐसा नहीं है कि नाममात्रसे ही अहिंसा धर्म प्रभु है व हम उसके नौकर हैं। शाश्वत, स्वाधीन आनन्द पाने के लिए अहिंसा धर्मका, जैन शाशनका पालन किया जा रहा है। हमारा प्रधान लक्ष्य क्या है कि शाश्वत स्वाधीन आनन्द हो। वह शाश्वत, स्वाधीन आनन्द अपने अपने कैवल्यमें है, लगावमें नहीं है। किसी परवस्तुके लगावमें हमको आनन्द नहीं है। आनन्द तो कैवल्यसे प्रकट होता है। यही मेरा प्रधान लक्ष्य है।

ज्ञानीका मनोरथ स्थानभूत सिद्ध पद— यह कैवल्य लक्ष्य जिसके प्रकट होता है। वह फिर क्या होता है ? सिद्ध। वह भगवान् सिद्ध कैसे है ? जिसने उत्कृष्ट लक्ष्यकी परमविकसित परिणति है, जो परमानन्दकी अवस्थामें स्थित आत्मस्वभावकी उपलब्धिसे अत्यन्त गम्भीर है। गम्भीर उसे कहते हैं जो न चले, न डुले, न हिले। समुद्रको कहते हैं गम्भीर। वह समुद्र तब गम्भीरताकी शोभा पाता है जब उसमें रंच भी लहरें न उठ रही हों और बड़े विस्तारसे अपने जल समूहको भरे हो, शान्त स्थिर पड़ा

हुआ हो। उसमें समुद्रके गम्भीरताकी शोभा बढ़ती है। भगवान सिद्ध ऐसे ही परम गम्भीर नीरंग, निस्तरङ्ग हैं। चलना नहीं, डुलना नहीं, विभाव नहीं, अचल, ऐसी स्थितिमें रहता हुआ जो गम्भीर है, शुद्ध है वह भगवान सिद्ध ही है।

यहां मनोरथस्थानका अभिनन्दन किया जा रहा है। फिर अंतमें प्रणाम किया जाता है ना? सो प्रभुका अभिनन्दन किया जा रहा है। पहिले तो मोक्षतत्त्वके साधन तत्त्वका अभिनन्दन करते हैं, किन्तु उन सब साधनोंसे जो अंतिम साध्य प्राप्त होता है, जो हमारे चरमलक्ष्यका पद है ऐसी उस स्थितिका अभिनन्दन करके अर्थात् गुणगान करके सिद्धको नमस्कार किया जा रहा है। यहां बतला रहे हैं कि यह सिद्ध परमगम्भीर हैं, क्योंकि इसने आत्माके स्वभावकी प्राप्ति करली है।

परमानन्दके आविर्भावकी विधि— भैया! परमानन्द कैसे प्रकट होता है? वह टंकोत्कीर्णवत है। कहीं बाहरसे प्रकट नहीं हुआ। वह अपने आपमें पहिले भी था किन्तु संसार-अवस्थामें कर्मविपाकके निमित्तसे वह तिरोहित था। रागद्वेष मोहमय विभावोंके कारण वह स्वभाव तिरोहित था। अब जैसे ही रागद्वेषका आवरण मिटा वही आनन्द जो तिरोहित था प्रकट हो गया। इसे ये पुद्गलद्रव्यकी भांति तिरोहित न समझिये कि जैसे मूर्ति पूर्ण प्रकट रखी है और उसके आगे कपड़ा डाल दिया है, क्या इस प्रकारसे तिरोहित है? नहीं। इनके तिरोहित होनेका ढंग भी बड़ा अजीब है। जिसमें ये दो बातें सिद्ध हुई हैं कि वह आनन्द था, और वह नहीं भी था।

केवलज्ञानके तिरोभावका दृष्टान्त— जैसे संसार-अवस्थामें केवलज्ञान तिरोहित है, ज्ञानावरणसे तिरोहित है तो क्या इस प्रकारके तिरोहित होनेके समय केवलज्ञान मौजूद है? केवलज्ञान मौजूद है और उसके ऊपर कपड़ा, पर्दाकी भांति ज्ञानावरण पड़ा हुआ है, यों तो नहीं है। यदि केवलज्ञान पर्यायरूप जैसा संसारअवस्थामें भी है। इसके तिरोहित करने की शक्ति किसीमें नहीं है। तो क्या केवलज्ञान है ही नहीं? सो भी बात नहीं है। द्रव्यत्वदृष्टिमें, स्वभावदृष्टिमें जब यह परखा जा रहा है तो वह स्वभाव यदि नहीं है तो द्रव्यका ही अभाव हो जायेगा। तो शक्तिरूपमें रहना, और व्यक्तिरूपमें न आना, इसको कहते हैं ज्ञानका आवरण। इस प्रकार वह परमानन्दका आवरण था वह परमानन्द टंकोत्कीर्णवत् प्रकट होता है।

टङ्कोत्कीर्ण दृष्टान्तका विवरण— जैसे कोई एक बड़ी शिला सामने रखकर कारीगरको बुलाया। एक फोटो आदिनाथ भगवान्की उस कारीगर

को दिखाया। देखो इस शिलामें ऐसी मूर्ति निकालना है। निकल जायेगी क्या ? कारीगर उस पत्थरको बड़ी सावधानीसे निरखता है और निरख कर कहता है हां साहब, बहुत बढ़िया मूर्ति निकलेगी। ऐसा कहनेमें यह झलक आई कि कारीगरने वह मूर्ति इसी समय देखली है उस शिलामें। आंखोंसे नहीं किन्तु ज्ञानसे। अब वह यह बतला रहा है कि हां इसमें मूर्ति है और नि ल आयेगी। अच्छा साहब, करिये काम, निकालो। अब कारीगर क्या करता है कि जो मूर्ति उसको दिख गई है उस मूर्तिमें चोट न लग जाय ऐसे बचावका वह ध्यान रखे हुए है और अपनी छैनी, हथौड़ी से चूँकि आवरण अभी बहुत ज्यादा है सो कुछ कम सावधानीसे उन टुकड़ों को हटाता है। इस मूर्तिमें चोट न लग जाय, यह ध्यान उसके शुरू से अंत तक है। कुछ बड़े आवरण हट गए तो अब दूसरे नम्बरके यत्नमें वह अब और छोटी हथौड़ी और छेनी लेकर कुछ विशेष सावधानीसे उस आवरणको हटाता है। वह भी आवरण हट गया तो अब मूर्तिका ढांचा, आकार सब स्पष्ट हो गया। अब जो अत्यन्तसूक्ष्म आवरण है उसको हटानेके लिए अत्यन्त छोटी छेनी और हथौड़ी लेता है और ऐसी सावधानीसे काम करता है कि जिससे साधारण लोग देखेंगे तो यह कह देंगे कि व्यर्थ ही इस कारीगरका खर्च उठाया जा रहा है। यह दिन भरमें करता तो कुछ है नहीं, आजके दिन कितना काम किया ? लो १ तोला पत्थर निकल पाया। क्या किया काम ? मगर वहां बड़ी सावधानीसे काम किया जाना चाहिए नहीं तो करा कराया काम सब खराब हो जायेगा। अब तो यह तीसरी बारका यत्न है।

परमानन्दकी सहजसिद्धता— इसी प्रकार एक सम्यग्दृष्टिको, अलौकिक कारीगरको यह धुन समाई है कि मुझे तो अपना परम आनन्द प्रकट करना है। उसने बड़ी गम्भीरतासे निरखा और अपने आपमें दिख गया, हां है इसमें आनन्द। इसका स्वभाव ही आनन्द है। निराकुलताका इसका स्वरूप ही है। उसे दिख गया कि इस स्थिति में शांति है, उसे दर्शन हो गया, जहां केवल एक सामान्यप्रतिभासकी स्थिति है, जहां केवल आत्मप्रकाशके स्पर्शकी स्थिति है, किसी भी प्रकारका रंच भी विकल्प नहीं है। अहो ! यह परमानन्द यहां विराज रहा है। इसको ही प्रकट करना है। ऐसी धुन जिस सम्यग्दृष्टि अन्तरात्माकी हुई। वह कारीगर अब क्या काम करता है कि इस आनन्दके आवरण जो रागद्वेष मोहभाव हैं, उनको हटाता है। आनन्दका घात करने वाला रागद्वेष ही है। ऐसी स्थिति अपनी बनाले कि रागद्वेष न रहें, फिर आनन्द तो सामने हाजिर ही है।

बाधकोंके हटानेका पुरुषार्थ-- किसी कार्यमें जो कि बड़ा सरल है, उसमें बाधा डालने वाले अगर अनेक हैं तो जितनी मेहनत उस कार्यके करनेमें न पड़ेगी उससे १० गुणी मेहनत उन बाधकोंसे रक्षा बनानेमें पड़ेगी। यह आत्मतत्त्व, यह परमानन्दमय स्थिति, यह अत्यन्त सरल है, सहज है, सम्पूर्ण है, स्वयं है। कहां जाना, कहां ढूँढना, किसकी मिन्नत करना? यह सहजआनन्द परमब्रह्ममें है ही। इसके आवरक हैं, विरोधी हैं, रागद्वेष मोह। सो इन रागद्वेष मोहभावोंको मात्र हटाना है। अब यह ज्ञानी पुरुष केवल रागद्वेषादि विभावोंको हटाता है। ज्ञानकी ही तो छेनी लिया और ज्ञानका ही हथौड़ा लिया। यहां लोहेका हथौड़ा काम न देगा। भैया और यहां कोई दूसरा लोहार काम न आयेगा। यह ज्ञानी है तो कारीगर है, ज्ञान ही की छेनी है, ज्ञानका ही हथौड़ा है और ज्ञानकी ही क्रिया है तथा ज्ञानकी ही चोट है। इस विधिसे रागद्वेष दूर किये जा रहे हैं।

स्थूल आवरण हटानेका यत्न— भैया! जो मोटे रागद्वेष हैं उनके हटानेमें कुछ ज्यादा सावधानी नहीं करनी पड़ती। घर है, मकान है, लोग है ये पर हैं। इनसे भिन्न अपनेको समझना है। यह तो बड़ी जल्दी समझ लिया जाता है कि यह ईटोंका मकान है। मेरा इसमें क्या है? इस मोटे रागद्वेषको ज्ञानकी हथौड़ी व छेनीकी चोटसे हटाया जा रहा है। लो, मोटा आवरण तो हट गया।

निकटस्थ आवरण हटानेका यत्न— अब आया दूसरा नम्बर, सो दूसरी चोटका प्रयोग है शरीर पर। इस परमानन्दका आवरक यह शरीर है। शरीर नहीं किन्तु शरीरविषयक विकल्प। जैसे कि उन मोटे रागद्वेषोंमें मकान महल बाधक नहीं थे, किन्तु मकान, महल विषयक विकल्प आनन्दके बाधक थे। इस दूसरे यत्नके अवसरमें शरीरविषयक विकल्पों की बाधा दूर की जा रही है, सो लगावो ज्ञानकी चोट ज्ञानकी छेनी हथौड़ी से। अब ज्ञानसे ज्ञानकी क्रियासे जो इसके भी दो टुकड़े कर लिये। अपने उपयोगमें मान जो यह शरीर मूर्तिक है, जड़ है, विपरीत स्वभाव वाला है, अत्यन्त भिन्न है। यह मैं केवल ज्ञानस्वरूप आनन्दस्वभावी यह आत्मतत्त्व हूं। इसका कोई रक्षक नहीं, कोई बाधक नहीं। यह स्वयं ही पूर्ण सुरक्षित है। हटा दिये दूसरे नम्बरके रागके आवरक, अच्छा तो हट गए।

सूक्ष्म आवरण हटानेका यत्न— अब यह सम्यग्दृष्टि तीसरे यत्नमें भेद करेगा आत्मविभावोंका और आत्मस्वरूपका। यह क्रिया बड़ी साव-

धानीकी है। इसको देखकर लोग कहेंगे कि इन लोगोंका जीना देशमें बेकार है, ये किसी कामके नहीं हैं। इनसे हिन्दुस्तानको क्या फायदा है? और ये क्या कर रहे हैं? साधारण लोगोंको ये बेकार प्रतीत होते हैं पर यहां तो वह कार्य किया जा रहा है कि जिसके बाद कृतकृत्यता प्रकट होती है। फिर करनेको कुछ काम नहीं रहता है। हां हां किए जावो इस तीसरे यत्न को। ये रागादिक भी अब ज्ञानकी चोटसे हटाए जा रहे हैं। इन विकारोंमें मेरा निशान भी नहीं है। ये कर्मोंके सद्भावमें रहते हैं व कर्मों के अभावमें रह नहीं सकते। ये जब होते हैं तो इस परमानन्दमय मेरे प्रभुके बाधक ही हैं, उपद्रव करने वाले ही हैं। यह मैं शाश्वत अहेतुक नित्य प्रकाशमात्र परम पारिणामिक भावरूप हूं। इसका प्रयोग इस ज्ञान-साधनाके द्वारा किया जायेगा।

ध्यानसे सुनने योग्य अपनी ही बात— भैया! अपनी ही बात कही जा रही है। ऐसा समझकर सोचिये कि हमारा कर्तव्य निभाने योग्य काम क्या है? यह प्रभुसिद्ध ऐसी परमानन्दमय अवस्थामें है, देखो ना दृष्टान्त की बात कि उस शिलामें से वह देवमूर्ति नजर आने लगी। लोग इस बड़े होशियार कारीगरको यह कहेंगे कि इसने देखो कितनी सलोनी मूर्ति बनाई है? अरे कारीगरने उस मूर्तिको कहां बनाया, उसने ,तो हटानेका काम किया। उस कारीगर ने बनानेका कोई काम नहीं किया। क्या लगा या उसने? कुछ भी तो नहीं उसमें लगाया। अहो भगवान् सिद्ध जो हैं ये बड़े पुरुपार्थी निकले। उन्होंने ऐसा अलौकिक आनन्द प्रकट किया, उत्पन्न किया। अरे कहां सिद्धने नया काम उत्पन्न किया? क्या यत्न किया? उन्होंने कुछ उत्पन्न नहीं किया। उन्होंने तो हटाने-हटानेका ही काम किया। और किसको हटानेका काम किया? धन मकान जड़ वैभवको हटानेका नहीं। अरे वे तो स्वयं ही हट गए।

निजकार्यकी धुनके प्रतापका एक दृष्टान्त— जैसे कोई वीर बलवान् प्रतापी किसी बड़ी भीड़से निकल जाय तो लोग कहते हैं कि यह भीड़ चीर कर निकल गया। अरे उसने भीड़ नहीं चीरी। उसने तो अपने बलसे अपने आपमें उपयोग करके अपनेको ले जानेका कार्य किया। उसका प्रताप ही ऐसा था कि भीड़ टिक न सकी।

आत्मसिद्धिके पुरुषार्थका प्रताप— जो जीव अपने ज्ञानबलको संभालकर अपने ज्ञानलोकमें विहार करता है उसका प्रताप है ऐसा कि यह धन मकान, कुटुम्ब, संग, परिवार सबको चीरता चला जाता है। वह केवल अपनी ही धुनमें मस्त चला जाता है। भगवान् सिद्ध जिसने स्थूल

विकल्प, मध्यविकल्प, सूक्ष्मविकल्प सब विकल्पोंका परित्याग किया, राग-द्वेषका आवरण हटाया उस प्रभु आत्मामें यह परमानन्द, जो स्वयं ही सहजमें प्रकट हो गया। ऐसा यह भगवान सिद्ध है जिसमें अपने स्वभाव का चरम विकास है। अनन्त ज्ञान और अनन्त ज्ञानका निरन्तर परिणमन चला करता है। उस सिद्धसे भी बढ़कर इस लोकमें कोई तत्त्व है क्या? हमारा मनोरथ स्थान यह सिद्धपद ही है। इस प्रकार सिद्धका गुणानुवाद किया जा रहा है कि यह सिद्ध ही शुद्ध है। यह सिद्ध शुद्ध ही है और हमारे मनोरथ स्थानका साधनभूत है।

उत्थानिकाकी क्रियावोंके रहस्य— इस ग्रन्थमें श्री अमृतचन्द्रजी सूरि, श्री कुन्दकुन्द महाराजके भावोंको अपनी शैलीसे, एक अनोखी पद्धतिसे बताते चले आ रहे हैं। जब-जब कोई गाथाका अवतार हुआ है तो उस अवतार होनेसे पहिले रचयिताका क्या आशय था और किस ढंगसे वह गाथाका वर्णन करना था? इन बातोंको भी अमृतचन्द्रजी सूरि ने अपने बड़े पांडित्यके साथ इन सबका वर्णन किया है। जैसे किसी भी बातको कहनेके लिए साधारण भाषामें तो ऐसा बोला जाता है कि अब यह कहते हैं। "यह कहते हैं" इस बातको ही अमृतचन्द्रजी सूरिने करीब ४०-५० ढंगोंसे इसका वर्णन किया है।

विभावयति— जब उन्होंने चारित्रस्वरूपका वर्णन किया तो साधारण भाषामें तो यह कह दिया जायेगा कि अब चारित्रका स्वरूप कहते हैं और फिर अगली गाथा बोल देंगे। इसे उन्होंने "कहते हैं" ऐसा सीधा न कह कर किन शब्दोंमें वर्णन करते हैं कि अब चारित्र स्वरूपको विभावित करते हैं। चारित्रस्वरूपको भावित करते हैं अर्थात् अपनी भावनामें उतारते हैं और विभावित करते है अर्थात अपनी भावनामें विशेषरूपसे उतरते हैं। जैसे इसमें ७वीं गाथा कही तो सीधा तो यों कहना था कि अब चारित्रका स्वरूप कहते हैं; उसको यों बताया कि चारित्रस्वरूपको विशेषरूपसे भावित करते हैं, फिर गाथा बोलते हैं। यह है उनका अनोखा ढंग। उस बातको किस सैन्समें लेकर सुनना चाहिए और कैसी अपनी तैयारी बनाकर उस गाथाको सुनना चाहिए? यह मर्म गाथा कहनेसे पहिले बताते चले गए हैं।

निश्चिनोति— किसी प्रकरणमें जब उनका शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोगको बताना था तो गाथामें तो सीधा बता देते परंतु श्री सूरिजी अब शुभ, अशुभ और शुद्धपना बताते हैं। कहा क्या है कि अब जीवके शुभपने, अशुभपने और शुद्धपनेका निश्चय करते हैं। इसमें

धानीकी है। इसको देखकर लोग कहेंगे कि इन लोगोंका जीना देशमें वेकार है, ये किसी कामके नहीं हैं। इनसे हिन्दुस्तानको क्या फायदा है? और ये क्या कर रहे हैं? साधारण लोगोंको ये वेकार प्रतीत होते हैं पर यहां तो वह कार्य किया जा रहा है कि जिसके बाद कृतकृत्यता प्रकट होती है। फिर करनेको कुछ काम नहीं रहता है। हां हां किए जावो इस तीसरे यत्न को। ये रागादिक भी अब ज्ञानकी चोटसे हटाए जा रहे हैं। इन विकारोंमें मेरा निशान भी नहीं है। ये कर्मोंके सद्भावमें रहते हैं व कर्मों के अभावमें रह नहीं सकते। ये जब होते हैं तो इस परमानन्दमय मेरे प्रभुके बाधक ही हैं, उपद्रव करने वाले ही हैं। यह मैं शाश्वत अहेतुक नित्य प्रकाशमात्र परम पारणामिक भावरूप हूं। इसका प्रयोग उस ज्ञान-साधनाके द्वारा किया जायेगा।

ध्यानसे सुनने योग्य अपनी ही बात— भैया! अपनी ही बात कही जा रही है। ऐसा समझकर सोचिये कि हमारा कर्तव्य निभाने योग्य काम क्या है? यह प्रभुसिद्ध ऐसी परमानन्दमय अवस्थामें है, देखो ना दृष्टान्त की बात कि उस शिलामें से वह देवमूर्ति नजर आने लगी। लोग इस बड़े होशियार कारीगरको यह कहेंगे कि इसने देखो कितनी सलोनी मूर्ति बनाई है? अरे कारीगरने उस मूर्तिको कहां बनाया, उसने तो हटानेका काम किया। उस कारीगर ने बनानेका कोई काम नहीं किया। क्या लगा या उसने? कुछ भी तो नहीं उसमें लगाया। अहो भगवान् सिद्ध जो हैं ये वड़े पुरुषार्थी निकले। उन्होंने ऐसा अलौकिक आनन्द प्रकट किया, उत्पन्न किया। अरे कहां सिद्धने नया काम उत्पन्न किया? क्या यत्न किया? उन्होंने कुछ उत्पन्न नहीं किया। उन्होंने तो हटाने-हटानेका ही काम किया। और किसको हटानेका काम किया? धन मकान जड़ वैभवको हटानेका नहीं। अरे वे तो स्वयं ही हट गए।

निजकार्यकी धुनके प्रतापका एक दृष्टान्त— जैसे कोई वीर बलवान् प्रतापी किसी बड़ी भीड़से निकल जाय तो लोग कहते हैं कि यह भीड़ चीर कर निकल गया। अरे उसने भीड़ नहीं चीरी। उसने तो अपने बलसे अपने आपमें उपयोग करके अपनेको ले जानेका कार्य किया। उसका प्रताप ही ऐसा था कि भीड़ टिक न सकी।

आत्मसिद्धिके पुरुषार्थका प्रताप— जो जीव अपने ज्ञानबलको संभालकर अपने ज्ञानलोकमें विहार करता है उसका प्रताप है ऐसा कि यह धन मकान, कुटुम्ब, संग, परिवार सबको चीरता चला जाता है। वह केवल अपनी ही धुनमें मस्त चला जाता है। भगवान् सिद्ध जिसने स्थूल

विकल्प, मध्यविकल्प, सूक्ष्मविकल्प सब विकल्पोंका परित्याग किया, राग-द्वेषका आवरण हटाया उस प्रभु आत्मामें यह परमानन्द, जो स्वयं ही सहजमें प्रकट हो गया। ऐसा यह भगवान सिद्ध है जिसमें अपने स्वभाव का चरम विकास है। अनन्त ज्ञान और अनन्त ज्ञानका निरन्तर परिणमन चला करता है। उस सिद्धसे भी बढ़कर इस लोकमें कोई तत्त्व है क्या? हमारा मनोरथ स्थान यह सिद्धपद ही है। इस प्रकार सिद्धका गुणानुवाद किया जा रहा है कि यह सिद्ध ही शुद्ध है। यह सिद्ध शुद्ध ही है और हमारे मनोरथ स्थानका साधनभूत है।

उत्थानिकाकी क्रियावोंके रहस्य— इस ग्रन्थमें श्री अमृतचन्द्रजी सूरि, श्री कुन्दकुन्द महाराजके भावोंको अपनी शैलीसे, एक अनोखी पद्धतिसे बताते चले आ रहे हैं। जब-जब कोई गाथाका अवतार हुआ है तो उस अवतार होनेसे पहिले रचयिताका क्या आशय था और किस ढंगसे वह गाथाका वर्णन करना था? इन बातोंको भी अमृतचन्द्रजी सूरि ने अपने बड़े पांडित्यके साथ इन सबका वर्णन किया है। जैसे किसी भी बातको कहनेके लिए साधारण भाषामें तो ऐसा बोला जाता है कि अब यह कहते हैं। "यह कहते हैं" इस बातको ही अमृतचन्द्रजी सूरिने करीब ४०-५० ढंगोंसे इसका वर्णन किया है।

विभावयति— जब उन्होंने चारित्रस्वरूपका वर्णन किया तो साधारण भाषामें तो यह कह दिया जायेगा कि अब चारित्रका स्वरूप कहते हैं और फिर अगली गाथा बोल देंगे। इसे उन्होंने "कहते हैं" ऐसा सीधा न कह कर किन शब्दोंमें वर्णन करते हैं कि अब चारित्र स्वरूपको विभावित करते हैं। चारित्रस्वरूपको भावित करते हैं अर्थात् अपनी भावनामें उतारते हैं और विभावित करते है अर्थात् अपनी भावनामें विशेषरूपसे उतरते हैं। जैसे इसमें ७वीं गाथा कही तो सीधा तो यों कहना था कि अब चारित्रका स्वरूप कहते हैं; उसको यों बताया कि चारित्रस्वरूपको विशेषरूपसे भावित करते हैं, फिर गाथा बोलते हैं। यह है उनका अनोखा ढंग। उस बातको किस सैन्समें लेकर सुनना चाहिए और कैसी अपनी तैयारी बनाकर उस गाथाको सुनना चाहिए? यह मर्म गाथा कहनेसे पहिले बताते चले गए हैं।

निश्चिनोति— किसी प्रकरणमें जब उनका शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोगको बताना था तो गाथामें तो सीधा बता देते परंतु श्री सूरिजी अब शुभ, अशुभ और शुद्धपना बताते हैं। कहा क्या है कि अब जीवके शुभपने, अशुभपने और शुद्धपनेका निश्चय करते हैं। इसमें

मर्म यह आया कि केवल बताने भरका मतलब नहीं है, किन्तु कुछ हृदय में पूर्ण निश्चय होना चाहिए और निश्चय भी वही हुआ करता है जहां हितकारी तत्त्व पर दृढ़ हो जाता है। शुभ, अशुभ, शुद्धका ज्ञान करते हुए अशुभ अत्यन्त हेय है, शुभ भी हेय है और सर्वथा उपादेय शुद्ध है। इस प्रकारके मर्मका भाव दिलाते हुए कहते हैं यह उसका भाव हुआ।

अध्यात्मरंगकी गहरी झलक जिसमें जिसका रंग गहरा होता है उसकी बात-बातमें वही रस टपकता है। अच्छा सुरीला गाने वाला पुरुष यदि कभी रोवे भी तो उसके रोनेमें भी राग स्वरका रंग निकलेगा वह किसी भी प्रकार हो। तो अध्यात्मरंगमें रंगे हुए अध्यात्ममग्न श्री अमृतचन्द्रजी सूरि महाराज एक "कहते हैं" इतने ही शब्दको कितनी प्रकारसे रखते हैं? यह सब एक-एक शब्दका मर्म जब विदित होता है तब ज्ञानी पुरुषका हृदय उमड़ आता है! चाहने लगता है यह कि ऐसी स्पष्टकथा जिसमें प्रकट है, ऐसे गुरुदेवके समयमें यदि मैं होता तो सर्व कुछ त्याग कर उनके चरणोंमें ही लोटकर अपना जीवन बिताता। ऐसी भावना प्रकट होती है। यह है अर्थकी बात।

अर्थभण्डार—एक बार एक राजा जंगलमें गया। वहां एक साधु बैठा था। वह साधुकी उपेक्षा करता हुआ चला गया। वापिस लौटा तो भी उपेक्षा करके थोड़ा खड़ा हो गया। तो साधु कहता है—वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं दुकूलैः, सम इव परितोषो निर्विशेषो विशेषः। स तु भवतु दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला, मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः॥ यदि तुम रेशमी कपड़ोंसे तुष्ट हो तो हम इन वल्कलोंसे तुष्ट हैं। यहां संतोष दोनों जगह समान है किन्तु दरिद्र वही कहलाता है जिसके तृष्णा विशाल होती है। जब मन तुष्ट होता है तो कौन अर्थवान् है और कौन दरिद्र है? और भी सुनो—अर्थानामीशिषे त्वं वयमिह च गिरामीश्महे यावदर्थं, शूरस्त्वं वादिदर्पज्युपशमनविधावक्षयं पाटवं नः। सेवंते त्वां धनाढ्या मतिमलहतये मामपि श्रोतुकामाः, मय्यप्यास्था न ते चेत्त्वयि मम नितरामेव राजन्नास्था॥ तुम यदि अर्थको चाहते हो तो हम भी वचनोंके समस्त अर्थको चाहते हैं और तुम्हारे यहां अर्थका विपुल भण्डार है तो हमारे यहां भी अर्थका विपुल भण्डार है। अर्थके मायने धन है और अर्थका शब्दार्थोंसे भी है। तुम शूर हो तो वादियोंके अभिमानका शमन करनेकी विधिमें हमारे भी पाटव है। तुमको धनाढ्य सेते हैं तो हमको बुद्धिका दोष मिटानेके लिए श्रोताजन सेते हैं। हे राजन् यदि तेरी मुझमें आस्था नहीं है तो मेरी तो पहिलेसे ही तुममें आस्था नहीं है। जिसके हृदयमें अर्थभण्डार है

ऐसे ज्ञानी पुरुषको क्लेश क्या है ? वह भी अर्थके भावोंके चमत्कारोंसे ही अपनेको तृप्त करते हैं।

तृप्तिका स्थान—धनसे क्या तृप्ति होती है ? परिवारसे क्या तृप्ति होती है ? आत्माकी तृप्ति आत्माकी ज्ञानवृद्धिसे होती है और परम तृप्ति उस ज्ञानमें होती है जो ज्ञान, ज्ञानके स्वरूपको ही जाननेमें लग जाय। ऐसा ज्ञान मनुष्य ही कर सकते हैं, यह बात नहीं है पशु पक्षी भी कर सकते हैं। संसारका बंधन काटने वाला ज्ञान आत्मामें अद्भुत तृप्ति व श्रद्धान करने वाला ज्ञान पशु पक्षी भी कर सकते हैं।

भावभासनाकी कला—कहो बड़ी-बड़ी विद्या जानने वाले चतुर पंडित कवि इस ज्ञानकी भावभासनाको न पा सकें और एक बैल, गाय, मेंढ़क, बंदर, सांप, पक्षी उस भावभासनाको पा जायें जिनमें वचन बोलने की सामर्थ्य नहीं, दूसरोंके वचनोंका अर्थ लगानेकी सामर्थ्य नहीं, पर यदि पशु पक्षियोंको कोई साधु समझाता है तो वे पशु पक्षी उस साधुकी मुद्रा और संकेतसे ही अर्थ समझ जाते हैं। गूंगा आदमी जितना अधिक संकेत समझ सकता है उतना अधिक बोलने वाला नहीं समझ सकता है। उस संकेत समझनेकी शक्ति बढ़ जाती है। तो वे पशु पक्षी तो गूंगे बच्चेसे भी अधिक गूंगे है। साधुजन उन्हें उपदेश देंगे तो उनकी मुखमुद्रा, उनके हाथ पैरके संकेत इनसे ही उन्हें भावभासनामें मदद मिल जाती है।

आलोचयति—तो तुम्हें किसी चीजको किस तैयारीके साथ सुनना चाहिए ? इस मर्मका गाथा बतानेसे पहिले बड़े पाण्डित्यके साथ श्री पूज्य सूरिजीने रचा है। श्री अमृतचन्द्रजी सूरिके कुछ थोड़ेसे शब्दों को बतायेंगे कि जिसको "कहते हैं" की एवजमें श्री सूरिजीने प्रयुक्त किया है। देखो भैया ! जब शुद्ध परिणाम और शुभ परिणामका वर्णन किया था तो सीधा शब्द तो यह कहना चाहिए कि शुद्ध परिणाम और शुभ परिणामका वर्णन करते हैं, पर यह न कहकर कहा है कि शुद्ध परिणाम और शुभ परिणामके फलकी आलोचना करते हैं। कितना विशाल आशय भरा हुआ है इस आलोचना शब्दमें ? जो हम कह रहे हैं। हे श्रोताजनों ! वह केवल सुननेकी चीज नहीं है। इस आलोचनामें गुण और दोषोंका यथार्थ अध्ययन किया जाता है।

आलोचनाका महत्त्व—लोग आलोचनाका अर्थ समझते हैं कि बुराई बता दिया, सो आलोचना हो गई ? अजी वह पुरुष बेईमान है जो आलोचना करनेमें केवल बुराई बताता है। आलोचनामें तो गुण और दोष दोनों ही बताए जाते हैं। दोष ही बताना है तो डटकर अपने दोष

बताना आलोचनाका आदर्श गुण है। अभी जो ऊँचे डाक्टर्स होते हैं, बड़े ऊँचे-ऊँचे फिलासफर होते हैं उनके रंच भी पक्ष नहीं रहता कि मैं किस कुलमें पैदा हुआ ? मैं किस मजहबमें पैदा हुआ ? इन चीजोंकी वे परवाह नहीं करते। अपने ज्ञानसे, ईमानदारीसे आलोचना किया करते हैं और यदि अपने सर्वपक्ष भी गिर जाते हैं तो भी उस बढ़िया आलोचनाको देख कर वे प्रसन्न रहा करते हैं।

आलोचक व साक्षीका बड़प्पन— आलोचना और साक्षी इनकी बड़ी महिमा है। या यों कह दो लौकिक भाषामें कि यह तो भगवान तुल्य है। गवाह जो होते हैं वे एक साक्षी कहलाते हैं। जैसी घटना हो उस घटनाका वर्णन करने वाला साक्षी कहलाता है। मगर जज उस मुलजिम से कहता है कि तुम अपना गवाह ले आवो। अरे जज ! तुम स्वयं उसे सिखा रहे हो कि तुम ऐसे पुरुषको लावो जो तुम्हारे पक्षकी बात कहे, यही अर्थ हुआ ना ? हुआ। नहीं तो वह जज यह कहता कि इस घटनाका कोई गवाह हो तो लावो। इसमें तो जजने पहिले ही बेईमानी सिखा दी, और वह उस निर्णायक बेईमानसे भी अधिक चतुर है। अच्छा साहब १५ मिनटमें लाता हूं। न्यायालयके बाहर गया और किसीसे कह दिया कि तुम्हें दो रुपया देंगे यों बोल देना। उस बेचारेकी शकल भी नहीं देखी पर ऐसे लोगों को यह विश्वास हो गया है कि यह काम तो जिम चाहे से करा लिया जायेगा। जैसे रेलका टिकट किसीने न खरीदा तो उस मुसाफिरमें इतनी हिम्मत है कि स्टेशन पर चैकरको नोट पकड़ा देंगे और चले जायेंगे। ऐसे ही ये सब लोग इसी तरहके ट्रेन्ड हैं।

साक्षी व आलोचकोंमें पक्षपातहीनता— तो साक्षीका बड़ा ऊँचा दर्जा है। साक्षी किसी पुरुषका न होकर घटनाका साक्षी हुआ करता है। इसी प्रकार आलोचक, समाजमें कोई विरोधात्मक बात चल रही हो और कोई सभासे विचलित है और कोई सरपंच चुनना है तो जो बिलकुल विरुद्ध बोलता हो, ऐसा नहीं है कि वह सही न्याय देगा। सो आप सब मिलकर उसको निर्णायक चुन लो और सभाकी गद्दीपर बैठाल लो तो उसका दिमाग पलट जायेगा। उसको यदि सत्य वातावरण मिलता रहता है तो बिलकुल बदल जायेगा। अपना पक्ष, अपना स्वार्थ, अपने मित्रोंकी शान सब भूल जायेगा और भरसक अपने आपमें यही उद्यम करेगा कि मै शुद्ध ही निर्णय दूं।

शुभ, अशुभ व शुद्धकी आलोचना— इसी तरह आत्माका बहुत ऊँचा वर्णन होता है। आलोचनामें किसीके केवल गुण ही बताया या

केवल बुराई ही बताया तो यह आलोचना नहीं है। यह जब शुद्धोपयोग और शुभोपयोगको कहते है ऐसा कहनेका प्रसंग आया तो वहां आचार्यदेव कहते हैं कि अब शुद्धपरिणाम और शुभपरिणामके फलकी आलोचना करते है। आलोचना करके अपना समस्त भाव खुलासा प्रकट करते है कि जो यह शुद्ध तो है ग्रहण करनेके लायक, ऐसा आशय बनाते हुए श्रोताजन सुनो। ऐसी तैयारी कराते हुए अमृतचन्द्रजी सूरि कह रहे हैं। कुशल कार्यकर्ता वह कहलाता है जो अपने सहयोगियोंके साथ, कामको कर सकते हो तो उसका उन सहयोगियों पर बड़ा असर पड़ता है। वे अपने कार्यमें जीजान तक लगा देनेके लिए तैयार रहते हैं।

आदेशकका आदेश्यमें शामिल रहनेका प्रभाव— किसी स्कूलमें कोई मास्टर बच्चोंको आर्डर देकर काम कराये। सींचो, वहां मिट्टी को फावड़े से खोदो तो उसका प्रभाव बच्चोंपर नहीं पड़ता है। कठिन शासनके कारण करना पड़े वह बात दूसरी है, मगर करता हुआ मनमें गाली देता जाता है किन्तु कोई मास्टर बताये भी और बीच-बीचमें स्वयं हाथसे फावड़ा लेकर कभी खोद दे, कभी फौहारा लेकर सींच दे और बच्चों पर शासन चलाए तो उसका प्रभाव बहुत सुन्दर पड़ता है। और वे बालक लोग हृदयसे काम करते हैं। मास्टर साहबको कुछ तकलीफ न करना पड़े ऐसा उनके हृदयमें भाव रहता है।

वक्ताका श्रोतव्यमें शामिल रहनेका प्रभाव— ये रचयिता महानुभाव भी जिस बातको जिस ढंगसे, जिस पद्धतिसे, जिस तैयारीके साथ श्रोता लोगोंको सुनाना चाहिए ऐसा आशय रखते हैं, जो जिस रंगमें रंगा हो वह उसी शैलीमें. आशयमें अपने आपको रंग कर बोला करते हैं। कवियों को देखा होगा कि कितने ही कवि जो बड़े ऊँचे छंद शास्त्र, ग्रन्थ पढ़ चुके और बड़े शब्दोंकी छटा याद है, वे किसी कविताको करने बैठते हैं यदि स्वयं उस भावमें भीगे हुए नहीं हैं तो घंटों लग जाते हैं एक दो छंदोंके बनानेमें और एक भावभीना कवि जो छंद शास्त्र और कोषके ग्रन्थों को अधिक नहीं जानता है फिर भी भावभीना अधिक होनेके कारण उस कविताको यथार्थरूपमें बड़ी जल्दी बना लेता है।

संवेदकका संवेद्यमें शामिल होनेका प्रभाव— किसी घटनाकी कोई सभा की जाये और जिसके हृदयमें सम्वेदना नहीं है, केवल लेक्चर ही देता जाता है तो उस सभामें उसके लेक्चर देने का प्रभाव न पड़ेगा। जितना कि उस घटनाके दर्दसे पीड़ित होकर कम बोलने वाला सभामें बोल सकता है, कुछ भी टूटे फूटे शब्द निकालता है तो उसके शब्दोंको

सुनकर सारी सभा उसके दिखाये हुए मार्ग पर चलनेके लिए तैयार हो जाती है। ये सब भावोंका चमत्कार है।

जीवभावका अजीवमें व्यपदेश— यह भी तो देखो जिसे कि बोला करते हैं ना भैया कि सोनेका भाव क्या है, चांदीका भाव क्या है? तो क्या आप सोना चांदीको हाथमें लेकर उसके किसी पर्तमें क्या आप यह खोज सकते हैं कि यह सोना अपना क्या भाव बनाता है? इस सोनेका कितना भाव है? या इसमें भाव है ही नहीं? न सोनामें भाव है, न चांदी में है, न गेहूंमें है और न किसी भी जड़ वैभवमें है। जो यह बोला करते हैं कि चांदीका भाव क्या है? उसका अर्थ यह है कि चांदीके विषयमें लोगों का भाव क्या है? यह उसका अर्थ है अर्थात् लोगोंकी आवश्यकता या प्रियता आदि कारणोंसे उनके परिणाम इस चांदी, सोनाके सम्बन्धमें कितने ऊँचे हैं या कितने गिरे हैं? चांदी का भाव गिर गया, इसका अर्थ यह है कि चांदीके विषयमें लोगोंके परिणाम गिर गये। गेहूंका भाव ऊँचा हो गया, इसका अर्थ यह है कि गेहूंके सम्बन्धमें पुरुषोंके परिणाम अब ऊंचे हो गए हैं। गेहूंके लिए लोगोंकी आदर बुद्धि अधिक हो गई है क्योंकि वह कम है और आवश्यकता ज्यादा है। इन जड़ पदार्थोंमें कहां भाव हुआ करता है? आज यह भाव था ऐसा लोग चिल्लाते हैं तो उसका अर्थ यह ही है कि इस विषयमें लोगों का यह भाव था।

भावोंका चमत्कार— सर्वत्र भावोंका चमत्कार है। मां अपने बेटे को जब छत पर दौड़ता हुआ देखती है, खतरे के स्थान पर दौड़ता हुआ देखती है, जहां गिरनेका संदेह है तो उस बच्चेको वह डाटती है। अरे तू पैदा होते ही मर न गया। ऐसा मां बोल देती है ना? सब भावोंका चमत्कार है कि उस मां की गालीको कोई गाली नहीं समझता है। और कोई पड़ोसी जरा कुछ विपरीत बोली दे तो वहां झगड़ा खड़ा हो जाता है। तो यह सब भावोंकी बात है। किसी ने कहा कि आप मुझे कितना चाहते हैं? तो उसे उत्तर दिया कि यह तो तुम अपने दिलको तराजुसे तौल सकते हो अर्थात् जितना तुम्हारा हृदय पर भाव होगा उतना ही भाव हमारा तुम पर है।

अभिष्टौति— जो कुशल समर्थ महापुरुष होते हैं वे वक्तव्यसे पहिले भाव उत्पन्न करा देते हैं। यहां कुशल आचार्यदेवने जब जो गाथा कही है प्रायः उसका एक तिहाई तो पहिले ही कह बैठते हैं। आज प्रकरण छिड़ गया है। "कहते हैं" इतनी सी बातको किन-किन रूपोंमें अमृतचन्द्रजी सूरिने वर्णित किया है? जब शुद्धोपयोगका फल वर्णन करना था तब

यही तो कहना था कि अब शुद्धोपयोगके फलको कहते हैं। पर ऐसा न कह कर क्या कहा कि अब शुद्धोपयोगके फलको अभिस्तुत करते हैं, मायने स्तुति करते हुए फलको दिखाते हैं। ओह, वह फल इतना उत्कृष्ट है, दिखाने के लायक है, सर्वोत्कृष्ट है, वह फल जिसने पाया है वह पुरुष लोकमें सर्वोत्कृष्ट है। इतनी धारणा बनाते हुए शुद्धोपयोगके फलको कहा जाता है। और स्तुति करते हैं इतना ही नहीं कहा, किन्तु अभिस्तुत करते हैं। अभिस्तुनका अर्थ होता है सर्वत्र सर्वप्रदेशोंमें अभि समन्तात्, अर्थात् अपने आपके उपयोगमें, आत्मप्रदेशोंमें फलकी बकत करते हुए, उसको अपने आपमें स्थान देते हुए उस रूप कुछ अपना परिणमन बना हो उसे फल कहते हैं। इतनी तैयारी कराकर फिर शुद्धोपयोगका फल सुनानेके लिए आचार्यदेव अभिस्तुत करते हैं, यह शब्द बोलते हैं।

निरूपयति— जब शुद्धोपयोगमें परिणत आत्माके स्वरूपका उपदेश करना था, तब यह कहना चाहिए ना, कि अब शुद्धोपयुक्त आत्माका स्वरूप कहते हैं—ऐसा न कह कर किन शब्दोंमें कहा है कि शुद्धोपयोग से परिणत आत्माके स्वरूपको निरूपित करते हैं। रूपित करते हैं, मायने दिखाते हैं। इसी से रूप शब्द बना है और निरूपितके मायने रग रग, अंश-अंश सब कुछ भली प्रकारकी निगरानी करके दिखाते हैं अर्थात् शुद्धोपयोगमें परिणत जो आत्मा है उनके स्वरूपको हम अपने आत्मामें अपने इन सब गुणोंके परिणमनको और इसकी योग्यताको निरखकर इसमें खोज रहे हैं। शुद्धोपयोग परिणत आत्माके स्वरूपको अपनी उपयोगभूमिमें धीरे-धीरे लगातार खोज रहे हैं जैसे जब कुछ अंधेरासा रहता है मानों शाम के ६॥ बजेका समय है और आपकी एक कागजमें खुरेचनेकी आलपीन गिर गई है तो उसको आप कैसे खोजेंगे कि सर्व जगह एक-एक हिस्सेमें देखते हुए और कुछ कोमल अंगुलियोंको डुलाते हुए आप देखते हैं ना ? इसी तरह जब उपयोगमें कुछ अंधेरी छायी है मगर पूरा अंधेरा नहीं है, कुछ थोड़ा सूझता भी है ऐसी स्थितिमें हम शुद्धोपयोग परिणत आत्मस्वरूप देखते हैं। कहां देखते हैं ? जो भिन्न आत्मा है, जो शुद्धोपयोग बन गया है वहां तो कोई दूसरा देख ही नहीं सकता। एक द्रव्यका परिणमन दूसरे द्रव्योंमें नहीं हुआ करता है। तब उस शुद्धोपयोग आत्माका भी स्वरूप हम अपने आत्मामें ही खोजते हैं। सो कुछ अंधेरा उजेला है, मुझसे इस कारण बड़ी कड़ी निगरानी करके तेज ज्ञानकी आंखें पसार करके अपने ज्ञानके हाथसे टटोल टटोल कर हम आत्माके स्वरूपको देखते हैं। ऐसा देखते हैं कि तैयारी करानेके लिए गाथासे पहिले यह शब्द कहा

है कि अब इसको निरूपित करते हैं।

अभिनन्दयति— जिसने शुद्धोपयोग पाया है उस शुद्धोपयोग पाने के लाभमें जो उनका विशुद्ध आत्मा बना है, उन्होंने जो आत्मस्वभावका लाभ पाया है उसको जब कहना है, तब सीधा तो यों कहना था कि अब विशुद्ध आत्माके स्वभावके लाभको कहते हैं, पर कहा किस प्रकार कि अब विशुद्ध आत्मस्वभावके लाभका अभिनन्दन करते हैं। अभिनन्दन परम भक्त तीव्र अनुरागी पुरुष ही कर सकता है। बोलता हुआ, अपने आत्मा में उतारकर गद्गद् होकर अपनी सब बाधाएँ भूल जायें, इस प्रकारसे बोलनेका नाम है अभिनन्दन। शुद्धोपयोगके लाभके बाद होने वाला जो आत्मस्वभावका लाभ है उसका अभिनन्दन करते हैं। याने उसे दृष्टिमें लेकर हम स्वयं निर्मल पर्यायमें परिणत होते हैं, ऐसी तैयारीके साथ सुनना और ऐसी तैयारीके साथ कहना, इसका नाम है अभिनन्दन। यों ही और भी अनेक शब्द हैं उनमें कुछको फिर कल कहेंगे।

विभावयतिका एक और स्थल—इस प्रवचनसारमें कुन्दकुन्द स्वामी ने जहां यह बतलाया कि केवल ज्ञानीके शारीरिक सुख दुःख नहीं हैं तो अमृतचन्द्रजी सूरिको सीधा यह कहना चाहिए कि इस शुद्ध आत्माके शारीरिक सुख दुःख नहीं हैं इस बातको बताते हैं। इसके बजाय इन्होंने यह शब्द रखा, चूंकि शुद्ध आत्मा इन्द्रियरहित है इसलिए उसके शारीरिक सुख दुःख नहीं हैं ऐसा विभावित करते हैं। किसे कहा है? दूसरोंको। दूसरोंको कहकर इनका क्या प्रयोजन निकलेगा? और दूसरोंको कहा भी नहीं जा सकता। "सो विभावित करते हैं" का यह अर्थ लेना—अपने आपमें आत्मस्वरूपको अतीन्द्रिय रूपमें देखते हैं और फिर ज्ञानस्वरूप में शरीर ही नहीं तो इसको सुख दुःख क्या होगा? इस प्रकारकी अपने आपमें भावना करते हैं। इस आशयसे बताते हुए कहते हैं कि 'सुख दुःख नहीं है इसको विभावित करते हैं अर्थात् अपने आपके उपयोगके द्वारा सुख दुःखसे रहित स्थितिको बनाते हैं।'

कथनीका वास्तविक रूप करनी— लोग कहते हैं कि केवल कहनेसे क्या है? जो कहे उसको करके दिखाये तब तो उसका कहना सच्चा। तो जिस-जिस बातको यहां कहा जा रहा है, उस-उस बातको सुनने वाले, बोलने वाले भी अपनी शक्तिके माफिक तुरन्त करते ही चले जायें तब तो यह प्रोग्राम कुछ प्रोग्राम है। इतना कष्ट करते हैं, समय देते हैं और फिर लाभ कुछ नहीं उठाया तो वह प्रोग्राम क्या प्रोग्राम रहा? लाभ उठाना यह है कि जैसा वर्णन निकलता है उस वर्णनके वाच्यमें अपने उपयोगको

लगा डालें। यह काम गुप्त है, गुप्तको ही करना है, गुप्तमें ही किया जायेगा और गुप्तही फल मिलेगा। यहां दिखाने बतानेका कुछ झंझट नहीं है।

अभिप्रेति— अब एक प्रकरण यह भी देखिये, भगवान्के कुछ भी परोक्ष नहीं रहता है। सभी चीजें प्रभुके ज्ञानमें प्रत्यक्ष स्पष्ट झलकती हैं। इस बातको सीधा कहनेके लिए यह शब्द कहना था कि "भगवान्के कुछ भी तत्त्व परोक्ष नहीं रहता, इस बातको बताते हैं" इसके बजाय यों कह दिया कि चूंकि भगवान् अतीन्द्रिय ज्ञानमें परिणमता है इस कारण उनके कुछ भी परोक्ष नहीं होता, ऐसा अभिप्रेत करते हैं अर्थात् अपने भीतर का अभिप्राय प्रकट करते हैं। मात्र कहते हैं सो नहीं। अपना अभिप्राय कौन प्रकट कर सकता है, जिसको कि ज्ञानपर पूरा अधिकार हो। जैसे कोई श्रोता कहता है कि चीज तो मैंने सब समझ ली है पर उसे बता नहीं सकता और कोई श्रोता ऐसा हो कि चीजको समझ भी लिया और बता भी सके, अपना अभिप्राय भी प्रकट कर सके। तो अभिप्राय प्रकट कर सकने वाला ज्ञान विशद हुआ कि नहीं और यहां आचार्यदेव भगवानकी बातके बारेमें अभिप्राय जाहिर कर रहे हैं। तब समझिये कि आचार्यदेवका ज्ञान कितना निर्मल है? किसी बड़े पुरुषके बारेमें अपना अभिप्राय प्रकट कर सकें तो समझना चाहिए कि इनकी पहुंच भी बहुत ऊंची है और जिस सम्बन्धमें अभिप्राय प्रकट कर रहे हैं उसका सब राज उसके अभिप्रायसे स्पष्ट होगा। भगवान्के कुछ भी परोक्ष नहीं है, ऐसा अब यहां अभिप्राय प्रकट करते हैं मायने वे बातें चित्तमें बिल्कुल स्पष्ट उतरी हुई हैं। फिर कुछ कैसे परोक्ष रह सकता है? उस ज्ञानस्वभावका स्वरूप इतना स्पष्ट समाया है कि आचार्यको भी रंच भी संदेह नहीं है। इसलिए अभिप्राय प्रकट करते हैं, इस शब्दसे 'कहते हैं' को कहा गया है।

शब्दोंके उचित प्रयोगोंका ध्यान— इस विषयका अधिक ध्यान इंगलिश भाषामें रखा जाता है पर लोग प्रायः हिन्दी भाषामें प्रयोगका सर्वथा औचित्यका ध्यान नहीं रखते। जैसे देखनेका कोई शब्द है, वह देखता है, वह तकता है, वह झांकता है, वह ढूकता है, पर इन शब्दोंका अर्थ न्यारा-न्यारा है कि नहीं? तो कुछ भी प्रयोग करते हैं मगर ठीक कायदेसे और सर्वत्र प्रयोग करना यह जरा हिन्दी भाषियोंमें कम देखा जाता है। पर इंगलिशमें तो इंगलिश भाषावेदी इसका पूरा ध्यान रखते हैं। एक वर्बके पर्यायवाची शब्द बीसों हैं। उन शब्दोंका प्रयोग भिन्न-भिन्न होगा और ढंगसे यदि प्रयोग नहीं कर सकते तो वह गलत मान

लिया जायेगा और यहां अमृतचन्द्रजी सूरिने जो इन सबसे भी बड़ा अजब लेखन किया है, रचना की है कि जिसके प्रकरण और शब्दके मर्म को ज्ञानी जानते हैं। ज्ञानी मर्मको जानकर उनपर न्योछावर हो जाते हैं। इतनी बड़ी प्रभावकनाके साथ शब्दोंको लिया है।

ज्ञानकी सर्वगतता— देखिये यह ज्ञान सर्वगत है, सब जगह फैला हुआ है। कमसे कम इनने कमरेमें तो आपका यह ज्ञान फैला है और इननेमें ही नहीं, कलकत्ता, बम्बई, जहांसे आपका सम्बंध हो वहां तक ज्ञान फैला है। चूँकि छद्मस्थ अवस्था है ना तो ऐसा ज्ञान फैला कि बीचमें ५०० मील ज्ञान गायब और बीचमें २०० मीलका ज्ञान तैयार, फिर २०० मील का ज्ञान गायब और फिर ७ हजार मीलका ज्ञान तैयार, ऐसा विभाव ज्ञान चल रहा है। आपने बम्बई तक जाना, उसके बाद कुछ न जाना, फिर अमेरिका वगैरह सुन रखा है ना, तो उसको जानते हैं। तो कैसा टूट-टूट कर ज्ञान चल रहा है? पर भगवान्‌का ज्ञान टूट-टूट कर नहीं फैलता है। उन का ज्ञान घड़ेमें भरे हुए पानीकी तरह सर्वत्र व्याप करके है।

आत्मस्मरण ही वास्तविक सगुन— यहां लोग पानीसे भरे घड़ेको सगुन मानते हैं कि आज हमें जलसे भरा हुआ घड़ा मिला, सो हमारा काम हो गया है और पानी जो स्वयं शरण नहीं है, अभी लोग पी डालेंगे और मिट्टी पलीत कर देंगे। सो वह पानी सगुन नहीं है। पानीसे भरे हुए घड़ेको देखकर इस ज्ञानके करनेका मौका मिलता है कि जैसे इस घड़ेमें लबालब पानी भरा है वैसे ही इस जानन जगतमें लबालब ज्ञान भरा है। उस घड़ेके अन्दर भरे हुए पानीमें कहां ऐसा नहीं है कि आध इन्च भी पानी खाली हो गया हो और उसके चारों ओर पानी आ गया हो। ऐसा है क्या? नहीं। एक रस होकर सर्वत्र वह व्याप रहा है। इसीको कहते हैं घन। जिसमें दूसरी चीज कुछ भी न हो, वही वही हो, निरंतर हो, ऐसा ही मेरा आत्मा ज्ञानजलसे भरा हुआ है।

जलपूर्ण कलशके दर्शनकी आत्मस्मरणकारणता— यहां प्रकाशके रूपको देखें तो वहां यह नहीं है कि बीचमें आध इन्च प्रकाश छूट गया हो और बाकी चारों ओर प्रकाश हो। आत्मप्रदेशमें देखो तो वहां यह नहीं है कि उसमें कुछ प्रदेश छूट गया और चारों ओर ज्ञान फैला है। सो जलपूर्ण घड़ेको देखकर ज्ञानपूर्ण आत्माकी खबर आती है। इसलिए भरा हुआ घड़ा सगुन है। नहीं तो वह मिट्टी और पानी क्या सगुन है? फिर लोग भूल गए कि यह सगुन क्यों कहलाता है? सो उसकी रूढ़ि बन गई, भाई जलसे भरा हुआ घड़ा मिल गया, इसलिए यह काम सिद्ध हो गया।

सो ऐसी बात नहीं है।

उद्योतयति— ज्ञान तो सर्वगत है, ऐसा जहां वर्णन आया है उस गाथाकी उत्थानिकामें सूरि जी महाराजने यह कहा था कि 'ज्ञान सर्वगत हैं, इस बातको अब कहते हैं, यों न कहकर क्या कहा कि 'अब ज्ञानकी सर्वगतताको उद्योतित करते हैं।' समझो शब्दमें कितना फोर्स है और एफेक्ट है? पता है इस मुमुक्षु को कि ज्ञानका स्वभाव वर्द्धनशील है और ऐसा सर्वगत हो जाना यह मेरे स्वभावमें पड़ा हुआ है, वह है। अब उसको क्या करते हैं? उद्योतित करते हैं।

ज्ञानके उद्योतके सम्बन्धमें दृष्टान्त— जैसे सरसोंके तेलका दिया जल रहा हो और थोड़ीसी जरा कम ज्योति हो गई हो तो उसको उकसाते हैं। इसी तरह आचार्यमहाराज ज्ञानके सर्वव्यापकपनेको उकसाते हैं "कहते हैं" नहीं कहा। दूसरोंकी बात कहते रहनेसे क्या मिलेगा? भगवान् हैं बड़ा तो बना रहे वह अपने घरका बड़ा। उनके बड़ा होने से हमें क्या मिलेगा? 'कोइ नृप होय, हमें क्या हानी। चेरी छोड़ न होइहैं रानी॥' आदिनाथ मोक्ष चले गए, एक महावीर मोक्ष चले गए, उनके मोक्ष चले जाने से हमें क्या मिल गया? हमें तो तब मिलेगा जब उनके विकास और उनके स्वरूपके हम निकटवर्ती बनेंगे। तो कहने से भी क्या होता है? कहने से भाटोंको कुछ राजासे मिल जायेगा अर्थात् जिनके चित्तमें गुण-ग्राहकता भी नहीं समाई है और राजाके आगे अपनी कविता सुना देंगे तो उन भाटोंको तो कुछ मिल जायेगा, पर कहने सुनने से हम भाटोंको तो भगवान्से कुछ भी नहीं मिलेगा। यदि हम प्रभुस्वरूपके निकटवर्ती न बन सके तो।

भगवान्का शुद्ध विकास— भैया! भगवान्का ज्ञान सर्वव्यापक है, उसे अब "कहते हैं" ऐसा न कहकर सूरिजी ने ये शब्द कहे हैं कि अब ज्ञानकी सर्वव्यापकता को उसकेरते हैं। श्रोताजनो! तुम इस ज्ञानके सर्व-व्यापीपने को उसकेरो, इससे ही काम चलेगा। भगवान् तो जरा भी तुम्हारी नहीं सुनते। कितना ही बाजा बजाते, विधान करते, नाचते, पसीना बहाते, पर भगवान् उड़दकी सफेदी बराबर भी तुम्हारी तरफ दृष्टि नहीं करते कि भाई अब ये परेशान हो गए, कुछ तो सुन लें। वे तो अपने अनन्त आनन्दमें लीन हैं, समस्त विश्वको जानते हैं, फिर भी अपने स्वरूपसे चिगते नहीं हैं।

प्रभुभक्ति अर्थात् ज्ञान ज्ञानका अपूर्व मिलन— अब अपन क्या करें? यह करें? देखो— यह सब ज्ञान-ज्ञानका मिलन है, न शरीरका,

तो आप कहेंगे कि हम शास्त्रोंको बड़ा मानते हैं। पर हमें तो यह लगता है कि प्रायः बहुतसे लोग शास्त्रोंको हाथ भी जोड़ते जाते हैं पर बड़ा मानते हैं छोरी छोराको। बड़ा शास्त्रोंको नहीं मानते, हमें ऐसा लगता है। हम सबकी कहानी नहीं कहते। बिरले ही दो चार लोग बैठे होंगे जो छोरा छोरीसे अधिक ग्रन्थोंको मानते होंगे। जो ऐसे हों हम उनका अभिनन्दन करते हैं।

अधिक महत्त्व देनेका परिचायक वर्ताव—आपने जो सम्पदा कमाई, यदि छोरा-छोरी घरमें कोई बीमार हो जाय या उनको पढ़ा लिखा कर उनको बहुत उन्नत बनानेका ध्यान हो जाय तो आप कितना खर्च कर डालेंगे। कुछ अंदाज है? १० हजार, २० हजार और अगर मरने लगे तो सारी सम्पदा लुटा देंगे। कहेंगे कि हमारे एक दो ही तो लड़का है। धन तो आ जायेगा पीछे किन्तु अभी तो सब लगा डालो और अगर कोई धर्म का काम आए शास्त्रोंके संकलनका, साहित्यके और बड़े-बड़े कामोंका, त्यागियोंका, साधुसंतोंकी धार्मिक बातोंका तो वहां विचारेंगे, गुनतेरा लगायेंगे कि कितना खर्च किया जाय? कितना धन लगा दें जिससे इज्जत बढ़ सके। क्या होगा? मुश्किलसे, धीरेसे निकल पाता है तो अब बताओ कि देव, शास्त्र, गुरुको बड़ा माना या घरके छोरा छोरीको बड़ा माना?

करनीसे बड़प्पन—मुँहसे कहनेसे कोई बड़ा नहीं कहला सकता है। जैसे कभी गुस्सेमें आकर कह देते हैं कि भाई साहब हम क्या जानें? हम तो आपके सामने बुद्धू हैं। आप सब समझते हैं। लेकिन अर्थ यह है कि तू बेवकूफ है जो मेरी बात नहीं मानता है। कहनेका मतलब उसका यह है और कह देता है कि भाई साहब आपके सामने तो हम ना चीज है; आपके ज्ञानके सामने हम कुछ नहीं हैं—ऐसा गुस्सेमें कह देते हैं। वैसे ही ये लौकिक पोजीशनके लिए हाथ जोड़ देते हैं। उन छोरी-छोराको ही बड़ा मानते जाते और सब कुछ न्यौछावर इन्हींके लिए है। उन छोरी छोरा के पीछे कुछ नहीं सोचते कि कितना खर्च हुआ? उनके पीछे सोचनेकी कुछ अर्गला न रहेगी।

स्वतत्त्वके अनिर्णयकी समस्या—आत्मा और ज्ञानके अन्यत्व व अनन्यत्व वाली बहुत बड़ी समस्या थी जिसका चिंतन किया है। सूरि जीके शब्दोंको सुनकर उनके ज्ञानकी महिमा तो जानों, ऐसा सुनिश्चित होता है कि ये वेद वेदान्त, शास्त्र, उपनिषद सभीके बड़े मार्मिक ज्ञाता थे। उनकी रचनाएँ इतनी सुदृढ़ हैं कि जिनका महात्म्य इनका स्वाद लेने वाला समझ जायेगा। इस चिन्तनमें सूरिजी ने स्वतत्त्वका यथार्थ निर्णय किया है।

सूरिजी ने चिन्ता भी की और चिन्ताका हल भी किया।

प्रतिहन्ति— एक प्रकरण आया है कि ज्ञान ज्ञेयमें नहीं जाता और ज्ञेय ज्ञानमें नहीं जाता। यह बात बतानी थी। सो क्या कहना था कि "ज्ञान ज्ञेयमें नहीं जाता और न ज्ञेय ज्ञानमें ही जाता। अब इस बातको कहते हैं, किन्तु ऐसा नहीं कहा और क्या कहा सो सुनिए। ज्ञान और ज्ञेयका परस्परमें गमनका प्रतिहनन करते हैं याने नेस्तनाबूद करते हैं। अब ज्ञान और ज्ञेयके परस्परमें गमनको नेस्तनाबूद करते हैं। बात वही है पर इसमें आशय कितना ऊँचा झलका हुआ है? मुझे कहना नहीं है, मुझे तो इस ऊधमको नेस्तनाबूद करना है। यह ज्ञान ज्ञेयमें भटक जाता और यह ज्ञेय ज्ञानमें घुसा रहता है जिसके कारण रात दिन परेशानी रहती है; उपयोग बड़ा कलुषित बना रहता है। सो हमें तो इस ज्ञानज्ञेयके परस्पर के गमनको नेस्तनाबूद करना है।

ऐसी ही तैयारी श्रोतावोंको भी करायी जा रही है। अब क्या करते हैं कि ज्ञान और ज्ञेयका परस्परमें गमन नेस्तनाबूद करते हैं। जैसे कोई भाषण देने वाला बम्बईकी बात सुना रहा हो और बादमें विदेशकी बातें सुनाने को तैयार होता हो तो क्या बलते हैं? अच्छा बम्बईकी बातें हो चुकीं, अब चलो आपको अमेरिका ले चलें और फिर अमेरिकाकी बातें सुनाने लगता है। भाव उसका यह था कि अमेरिकाकी बातें सुनो, मगर कहा क्या कि चलो अब आपको अमेरिका ले चलें। यहां जो बात कही जायेगी उसके पहिलेकी जो उत्थानिका होती है वह बड़ा महत्त्व रखती है यहां ज्ञान और ज्ञेयके परस्पर गमनका नेस्तनाबूद किया है कि ज्ञान ज्ञेय में नहीं जाता और ज्ञेय ज्ञानमें नहीं जाता। देखो ना, यहां लोग कह देते हैं कि हमारा ज्ञान पदार्थोंमें चला गया। देखो हमारे ज्ञानमें हमारा भाई आ रहा है। लगता है ऐसा कि नहीं? और ऐसा यदि कुछ किसी भी ढंग में प्रतिभास रूपमें भी यदि इतनी बात न आती तो फिर ज्ञानका स्वरूप ही क्या रहा?

संभावयति— जब यह बताना था कि न ज्ञान अर्थमें जाता है और न अर्थ ज्ञानमें आता है। केवल प्रतिभासका नातेसे गमन प्रतीत होता है। वहां यह कहते हैं" यह न कहकर क्या शब्द बोलते हैं कि ज्ञान अर्थमें रहता है इसकी सम्भावना करते हैं। कितनी सावधानी है इस आध्यात्मिक संतकी कि यह भी बात न आई कि ज्ञान अर्थमें ही जाता है। और यह भी भान न हो जाय कि ज्ञान पदार्थोंको कुछ समझता ही नहीं है। सो अब ज्ञान अर्थमें रहता है इसको कहते हैं, यह न कहकर क्या कहा कि अब

ज्ञान अर्थमें रहना है इसकी सम्भावना करते हैं। तो उस ही बातको यहां सम्भावित करते हैं कहकर कितनी समस्यावोंको हल किया है ?

क्षोभं क्षपयन्ति-- अहो एक प्रकरण तो और देखिए जहां यह बताया था कि हम तो मात्र ज्ञानकी दृष्टिसे निरखें तो केवल ज्ञानीमें और श्रुत ज्ञानीमें कुछ अन्तर नहीं है। तो इसको यों कहना था ना, कि केवलज्ञानीमें और श्रुत ज्ञानीमें अन्तर नहीं है, इस बातको कहते हैं। पर ऐसा न कहकर क्या कहा है ? खूब ध्यानसे सुनिये। केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानी में विशेषता न निरखकर विशेष जाननेकी आकांक्षाके क्षोभको नष्ट करते हैं। "इसको कहते हैं" सीधी तो बात यह कहनी थी, पर क्या कहते हैं कि उन दोनोंमें विशेषता नजर नहीं आती, इस कारणसे कुछ विशेष जानने की इच्छाका जो क्षोभ मचता है उसको नष्ट करते हैं। इसका अर्थ है, कहते हैं। इतना तो निकला अर्थ और इस आशयमें क्या करना चाहिए सो यहां सब समस्यावोंका हल पड़ा हुआ है।

अभिनन्द्य और अभिनन्दक— यह तो उत्थानिकाओं की बात चल रही है पर टीकावोंमें भी ऐसे-ऐसे विलक्षण शब्द हैं, एक बात कही और १० तत्त्व नजर आए। ऐसे इस प्रवचनसारके कर्ता इस गाथाके प्रकरणमें मोक्षतत्त्वके साधनतत्त्वका अभिनन्दन कर रहे हैं। जिसका अभिनन्दन करते हैं वह तो बड़ा है ही, मगर अभिनन्दन करने वाला भी बड़ा होना चाहिए। सो अमृतस्रावी अमृतनिधि श्री अमृतचंद जी सूरीश्वर जैसे महापुरुषको अभिनन्दनकर्तृत्व शोभा देता ही है।

उपन्यस्यति-- कुन्दकुन्दाचार्य देवने जब कुछ शुभोपयोगका वर्णन किया कि देवता, यति, गुरु इनके बीचमें रहना, दानशील, उपवासमें लगना ये सब शुभोपयोग हैं। तो यह कहना चाहिए उत्थानिकामें कि अब शुभोपयोगका विवरण करते हैं, कथन करते हैं। यह न कह कर क्या कहा श्री अमृतचन्द्रजी सूरिने कि अब इन्द्रियसुखके विचारके प्रकरणमें उसके साधन स्वरूपका उपन्यास करते हैं। जो लोग कहते हैं कि शुभोपयोग उपादेय है कि हेय है, एक बड़ी चर्चा छिड़ी है उस समस्याका इस क्रिया में ही पूरा हल है। इन देव, शास्त्र, गुरु पूजा, उपवास आदिको उपन्यस्त करते हैं। अर्थात् अपने आपके समीप पासमें धरोहररूपमें रखते हैं। यह है उपन्यसनका अर्थ। न्यासोपहार शब्द आया है। न्यासका अर्थ है धरोहर और उपहारका अर्थ है समीप। इस शुभोपयोगको अपने समीपमें धरोहररूपमें रखते हैं अर्थात् धरोहरसे किसीका प्रेम होता है क्या ? नहीं होता है। पर उस धरोहर की चीजकी रक्षा करते हैं कि नहीं करते हैं ?

करते हैं। इस प्रकार ज्ञानीजन शुभोपयोगसे प्रेम नहीं करते। वह धरोहर है, पर उस शुभोपयोगको जानकर करते हैं कि नहीं? करते हैं। तो 'शुभोपयोगको कहते हैं' के बजाय 'शुभोपयोगको उपन्यस्त करते हैं' कहा गया।

महन्तोंकी वाणीमें मार्मिक ओज भैया! बात बतानेको जब बोल रहे हैं तो कह तो रहे ही है तो 'कहते है, कहते हैं' ऐसा बारबार रिपीटियेशन क्यों करते हैं। अच्छा सुनो, अब यह कहते है। अरे बाबा सुन तो रहे हैं कि बोल रहे हो। बारंबार क्यां कहते हो कि अब यह कहते हैं। यदि कहते ही हैं तो उस रास्तेका ऐसा रूपक बनायें कि शिक्षा भी मिलती जाय कि अब हमें क्या करना है? तो यहां शुभोपयोगको उपन्यस्त करते हैं, यह समझो। यहां जैसे कहते हैं कि पूत के लक्षण पालनेमें जाने जाते हैं। तो यों ही टीकाके मर्मका पता उस टीकाकी उत्थानिकासे जाना जाता है और उस उत्थानिकामें जैसे शिखर पर कलश चढ़े हुए होते हैं, इसी प्रकार उत्थानिकाके अंतमें क्रियाका कलश चढ़ा हुआ है। और उस क्रियासे हम इस वर्णनसे क्या करें, क्या शिक्षा लें? उन सब कर्तव्योंको प्रकाश दिया जाता है।

आख्याति-- यदि यह कलपना हो जाय किसीको कि इन्द्रिय सुखका जो साधन है वह अपने पास रखना चाहिए क्योंकि शुभोपयोगसे अच्छी बात मिलेगी। तो इसके बाद ही अगली गाथाकी उत्थानिकामें जहां कि यह बताया है कि यह शुभोपयोगी जीव नाना इन्द्रिय सुखोंको प्राप्त करता है। तो इसको इस प्रकार भूमिकामें बता सकते हैं कि "शुभोपयोगसे इन्द्रिय सुख मिलता है इस बातको कहते हैं। यह न कहकर इन शब्दोंमें कहते हैं कि 'शुभोपयोगसे जो मिलता है वह इन्द्रिय सुख ही मिलता है।' ऐसी डोंडी पीटते हैं, आख्यान करते हैं कि लोग कहीं उसको उपादेय न मान लें। देखो शुभोपयोगसे जो मिलता है वह इन्द्रियसुख मिलता है, वास्तविक सुख नहीं मिलता है, ऐसा अब आख्यान करते हैं।

उत्क्षिपति-- आख्यान हो चुका, इतने पर भी जब पूरी बात इन्द्रियसुखके हेयताकी नहीं आ पायी तो श्री कुन्दकुन्दाचार्यने यह बताया कि वह इन्द्रियसुख दुःख है। उसकी उत्थानिकामें सीधा तो यह कहना चाहिए ना कि इन्द्रियसुखको दुःखरूप कहते हैं, या दुःखरूप बताते हैं। इसे न कहकर कितना सुन्दर वाक्य है? ध्यानसे सुनो। लोगोंके चित्तमें इन्द्रियसुख कुछ अच्छी जगह पर मालूम पड़ने लगा था। सो कहते हैं कि इन्द्रियसुखको उठाकर दुःखस्वरूपमें फेंकते हैं। भैया! जैसे जिनकी म्याद निकल गई या

जिनका भरपाया हो गया ऐसे कागजको फाइलसे निकालकर कूड़ेमें टोकरीमें फेंक देते हैं। यों ही उस इन्द्रिय सुखको लोगोंके उपयोगसे, उस महत्ताके पदसे उठाकर दु:खके स्वरूपमें फेंकते हैं। फिर वर्णन करने लगे। यों अनेक शब्द हैं और न शब्दोंमें भिन्न-भिन्न रहस्य छिपा हुआ है।

उद्भावयति— एक प्रसंगमें यह पुण्य दु:खका कारण है, जब ऐसा कहना था। उसको सूरिजी इन शब्दमें कहते हैं कि इस प्रकार पाये गए पुण्यके, दु:खके बीजको, हेतुपनेको उद्भावित करते हैं। जैसे कोई चीज जब नहीं रुचती है और लड़का हठ करता है उस खराब चीजका, हानि-कारक चीजका, तो उसका संरक्षक या माता पिता क्या करते हैं कि गुस्सेमें आकर कि चाहिए तो एक छटांक ही चीज और सेर भर आगे धरकर जबरदस्ती लगाकर खिलाता है तो वह बेचारा कह बैठता है कि नहीं, नहीं, हमें नहीं खाना है। ये संसारी जब इस पुण्य-पुण्यमें बहुत लग रहे हैं और और उसके ही फलको भोग रहे हैं, इन्द्रियसुखको ही भोग रहे हैं; परिवार, मित्रजनोंके संगको ही भोगा करते हैं तो इस जीवके संरक्षक आचार्यदेव इस जीवको कहते हैं कि लो, करलो पुण्य जितना करना है, लो, इस पुण्यको दु:खके कारणपनेको हेतुपनेको उद्भावित करते हैं याने दु:खजालोंका अंकुर निकलता है। अर्थ सीधा यह है कि पुण्य दु:खका कारण है, इस बातको प्रकट करते हैं।

पुण्यका क्या उठेगा— भैया ! पुण्य खूब किया किसीने, खूब पुण्य का बंध हुआ। उसके उदयमें क्या मिली ? सम्पदा। सम्पदा पाकर क्या होगा ? जिसको आत्मदृष्टि पहिले न थी उसकी बात कह रहे हैं। गर्व होगा, दूसरोंको तुच्छ मानेगा, विषयोंमें विशेष जागृति होगी और उन विषयसाधनोंकी पूर्तिसे अन्याय भी न मिटेगा तब पांचों पापोंमें प्रवृत्ति होगी। अब इतना काम हो चुकनेके बाद यह बतलावो कि इसकी अब क्या गति होगी ? भैया ! क्या गति हो सकती है ? नरकादिक तो नरकादिक गतियोंके कारणका, कारणका कारण सोचते हुए अन्तिम मूल चीज बतलावो क्या थी ? पुण्य। जो जीव आत्मदृष्टिसे रहित हैं, और धर्मके लक्ष्यसे च्युत है ऐसे जीवको पुण्यसे आखिर क्लेश ही पहुंचता है।

धर्मरुचिक पुण्यवंतकी चित्तवृत्ति— जिनको धर्मकी धुन है, आत्म-स्वरूपकी दृष्टि है, मुक्तिका लक्ष्य है, पुण्य उनके भी बनता है पर इसके सातिशय पुण्य बनता है। उस पुण्यके उदयमें सम्पति प्राप्त हो तो इसे उदारता और विरक्ति मालूम होती है। उनकी तो यह हालत हो जाती है कि जैसे थालीमें मिठाई न परोसी जाये जो चित्त लगा रहता है कि

मिठाई तो दोनों ही चाहिए थी और जब मिठाई से भरा हुआ थाल ही सामने परोसा जा रहा है तो चित यही कहेगा कि खानेकी चीज तो रखी नहीं है। सब लड्डू, रसगुल्ले ही धर दिये हैं, इनसे कहां पेट भरेगा? खानेकी तो कोई नमकीन चीज चाहिए थी। इसी तरह सातिशय पुण्य वालोंके सामने यह सजा सजाया थाल रखा है, वे समझते हैं कि इससे पूरा नहीं पड़ेगा। यह हालत होती है ज्ञानियोंकी। जबकि अज्ञानीके सामने दाल रोटीसे परोसी हुई थाल रख दी जाये तो वह सुखसे नहीं खा सकता है। क्योंकि मनमें इच्छा है कि इमरती और पेड़ा आदि होना चाहिए। उनके सामने परोसी हुई थाल रखी हो तो भी आनन्दसे नहीं खा पाते। तो पुण्यके उदयसे प्राप्त हुआ वैभव भी अज्ञानी जीव ठीक प्रकार से नहीं भोग सकता है। सो बताया है कि पुण्यके दुःखके बीज हेतुपना रूपसे अंकुर उगाते है।

अधिवसति— सब वर्णन करनेके बाद जब शुद्धोपयोगका महात्म्य बताने चले कि जो ज्ञानी होकर रागद्वेष न करके शुद्धोपयोग बनाता है वही दुःखोंका क्षय करता है तो बताना चाहिए कि शुद्धोपयोगके फलको कहते हैं। इतनी सीधी बात न कहकर क्या कहा कि शुभ, अशुभ उपयोग को समान जानकर, रागद्वेषोंको दूर कर सुनिश्चित् मन होकर अब शुभोपयोगमें रहते हैं, अर्थात् अब शुद्धोपयोगमें रहते है। अच्छा सुन लो। आपका शुभोपयोगसे भी पूरा न पड़ेगा, अशुभोपयोगसे भी पूरा न पड़ेगा तो चलो हम तुम्हें शुद्धोपयोगमें बैठा दें। ऐसी भी तो कहनेकी शैली होती है अर्थात् अब शुद्धोपयोगके महात्म्यको बतलाते हैं। यह शुद्धोपयोग अन्यत्र नहीं है। इसका आधार स्वयं है। इस कारण वसति, इतना ही नहीं कहा, किन्तु अधिवसति अर्थात् अपने आपके उपयोग स्वरूपमें अब निवास करते हैं।

उत्तिष्ठते— अच्छा, फिर जब यह बताया था कि देखो जो मोहको न छोड़ेगा वह शुद्ध आत्माको नहीं पा सकता। सो इस बातको कहते हैं किस ढंगसे अमृतचन्द्रजी सूरि महाराज कि चरित्र भी हम धारण करलें पर शुभोपयोगके आधीन होकर यदि हम मोहादिकको दूर न करें तो उसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति कहांसे होगी? ऐसा जानकर अब सारा जोर लगाकर उठ खड़े होते हैं। "रहते हैं" नहीं कह रहे हैं अब उठ खड़े होते हैं। जैसे कभी ओछी बातपर बहुत विवाद चल जाता है, सभामें, कमेटीमें और बड़ा गंदा वातावरण हो गया हो उसमें जो प्रमुख होता है, वह एकदम दो टूक शब्द कहनेके लिए बड़ा तैयारीके साथ उठ खड़ा होता है। इसी प्रकार

इन सब गड़बड़ियोंको देख चुकनेके बाद आचार्य महाराज जोर लगाकर उठ खड़े होते हैं। ऐसा कहनेके बाद फिर अपने प्रकृत विषयको बोलने लगते हैं।

जागर्ति— इस ही बातको अब यों कहते हैं कि रागद्वेषको यदि छोड़ते हैं तो शुद्ध आत्माको प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए विधिकी बातको निषेध रूपसे ढालकर कहनेमें बल बढ़ता है और निषेध वाली बातको विधिरूपसे ढालकर कहनेमें बल बढ़ता है। पहिले निषेध वाली बातको विधिमें ढाला था और अब विधि वाली बातको निषेधरूपमें ढालते हैं। कहना तो यह है कि जो रागद्वेष छोड़ता है वह शुद्ध आत्माको पा लेता है, इसको किस तरहसे कहा कि चिन्तामणि हमने प्राप्त की, कर लिया तो भी हमारे पीछे प्रमादरूपी चोर लगा है इसलिए अब जागते हैं और जागते हैं अर्थात् कहीं रागद्वेषसे लिपट न जायें नहीं तो शुद्ध आत्माकी प्राप्ति न होगी। सो भैया ! सावधानी रखो, निरन्तर जगते रहो। दो मिनट भी प्रमाद करना योग्य नहीं है।

प्रयतते— फिर जब भेद विज्ञानकी बात बताते हैं कि देखो जो निजि ज्ञानात्मक वस्तु है वह तो यह मैं हूं और इसके अतिरिक्त अन्य सब पदार्थ मुझसे भिन्न हैं। यदि ऐसा निश्चयसे जान सकते हैं तो मोह का नाश कर सकते हैं। तो भेदविज्ञानसे मोहका विनाश होता है, अब 'यह कहते हैं' ऐसा सीधा कहना था। इसकी ऐवजमें बोलते हैं सूरिजी कि स्वपर भेदविज्ञानसे ही मोहका क्षय होता है। इस कारण निज और परकी भेदकी सिद्धिके लिए अब प्रयत्न करते हैं। केवल कहनेसे क्या निकलता है? प्रयत्न करना चाहिए था। कहते रहे हैं, सामने तो दिख रहा है, बार-बार कहते हैं, कहते हैं का क्या प्रयोजन है?

नकब— जैसे कोई लोग व्याख्यानमें कोई एक दो शब्द बार-बार बोलते हैं। जैसे कि व्याख्यान देते जा रहे हैं और 'जो है सो, जो है सो,' बोलते जा रहे हैं। फिर थोड़ासा बोल दिया, फिर "जो है सो" बोलते हैं। जो है सो बोलनेकी आदत पड़ती है। कोई कहते हैं कि विद्याके ऊपर बोलते हैं। अरे विद्याके ऊपर चढ़कर बोलना है क्या? अब परोपकारके ऊपर बोलना है, अब संतोषके ऊपर कहना है और किसीके ऊपर चढ़कर बोलना है क्या? कुछ शब्द ऐसे व्यर्थके बोले जाते हैं जिनसे कुछ प्रयोजन नहीं है। जो है सो, अथवा और-और प्रकरणसे बोलते हैं। ऐसा ही सूरिजीको "कहते हैं" यह शब्द नकब जचा।

अपना नकब अज्ञात— अपनी बात अपनेको न मालूम पड़ेगी कि

हम क्या बोल गए, और यह हमारी नकल है। अपनेको पता ही नहीं पड़ता। हमको तो पता ही नहीं है कि अपने बोलनेमें कौनसा शब्द बार-बार बोला करते हैं। अगर किसीको पता हो तो बतलावो। यह "कहने की बात" बार-बार कहना यह अमृतचन्द्रजी सूरिको नहीं रुची और इस बातको कहनेके समय जो शिक्षा लेनी चाहिए, बातके कहनेमें जो कर्तव्य करना चाहिए उसका ख्याल कराते हुए उन्होंने कहा है और इसी कारण यह कह रहे हैं कि अब तो निज और परके भेदके लिए प्रयत्न करते हैं। बातें बहुत हो गईं, निजका और परका भेद करना चाहिए। अब यह कहने का समय नहीं है कि अब चलें भेद करें, अब स्व परमें भेद करते हैं।

अमली काम ही वास्तविक वचन— भैया! यों तो सभावोंमें प्रस्ताव बहुत होते हैं, मैं यह प्रस्ताव करता हूं कि ऐसा होना चाहिए। एक उठकर कहता है कि मैं इसका समर्थन करता हूं। एक कहता है कि मैं इस का अनुमोदन करता हूं। सभापतिसे पूछ लिया, सर्वसम्मतिसे पास हो गया। अब दूसरा प्रस्ताव तैयार होता है क्या कि जो अभी बाबू साहबने प्रस्ताव किया है, उसपर अमल करना चाहिए। पहिला प्रस्ताव क्या अमल के लिए नहीं है? दूसरा भाई बोलता है कि इस प्रस्ताव पर बराबर अमल करना चाहिए। किसी प्रस्तावमात्रमें धरा क्या है? धरा तो करनेमें है। कहनेको तो सब कहते ही हैं, देख ही रहे हो। इस कारणसे "कहते हैं" की बातें न रुचाकर और भिन्न-भिन्न शब्दोंमें आचार्य महाराजने इन सब बातोंको बताया है।

कर्तृत्वके प्रतिषेधका प्रसंग— एक प्रकरण है, जैसे बहुतसे लोग मानते हैं कि कोई दूसरे पदार्थका कुछ कर देता है और किसीका कोई कुछ लगता है। तो ये दो ही तो भूलें हैं जिनके कारण संसारमें हम आप सब नाच रहे हैं। अगर मंदिरमें या पाठशालामें या किसी अन्य कमेटीमें कोई काम करता है तो वह समझता है कि मैं ही सब काम कर रहा हूं। कोई काम यदि करना हुवा और वह काम न पास हुआ तो उसे दुःख होता है। कार्यकर्त्तावोंका तो सीधा काम है कि कमेटी बैठ गई, बहु-सम्मति से जो बात पास हो गई सो ठीक है। क्योंकि वह जानता है कि इसका मैं स्वामी नहीं हूं। ऐसी नीति स्पष्ट हो तो अगर कोई लांछन लग गया तो वह कमेटी पर लगेगा, मेरे ऊपर कोई लांछन न लगेगा। कमेटी ही मालिक है। बहु-सम्मतिसे पास हुआ है। हां अधिकारके नातेसे जिम्मेदारी यह है कि जो तय हो जाये वह निभाना है। इसी तरह घरकी बातों में सब जगह एक ढंग है। घरमें दसों आदमी हैं और यह जानना है कि

मैं ही कमाता हूं, मैं ही पालता हूं और ये सब मेरे दास ही दास हैं। अरे सम्यग्ज्ञानी पुरुष तो अन्दरसे फक्कड़ हो रहा है। उसे ६ खण्डकी विभूति क्यों न मिली हो पर यदि मौका आ जा जाय तो उसे भी छोड़कर चल दे। केवल आत्माकी एक अपने आत्माकी ही रुचि है।

प्रतिहन्ति— अब देखो इसी प्रसंगमें जहां यह बात कहनी है कि "किसी द्रव्यके द्वारा किसी दूसरे द्रव्यका आरम्भ नहीं होता। एक द्रव्य से दूसरा द्रव्य जुदा है "इस बातको अब कहते हैं। इस सीधीसी बातको अमृतचन्द्रजी सूरि क्रांति भरे शब्दोंमें बोलते हैं कि अब द्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्यके आरम्भको खत्म करते हैं। प्रतिहन्ति मायने नष्ट करते हैं। अपनी ओरसे नष्ट करनेकी बात इतनी क्रांतिसे न होती, किन्तु दूसरेकी ओरसे कर्तृत्ववादके गोले फेंके जा रहे थे, उसमें क्रांति करनेका यह बल बढ़ गया है कि लो अब इसको एकदम खत्म करते हैं। किसी चीजको खत्म करनेमें जोश तब आता है जब मुकाबलेमें कोई विरोधी हम पर बाणकसी कर रहा हो तब बाणकसी करनेमें जोश आता है। इसलिए शब्द बोला है प्रतिहन्ति।

आध्यात्मिक मार्मिक शब्द भण्डार— यों ही मर्मसे परिपूर्ण यह अध्यात्म ग्रन्थ है जिसको अनेक शब्दोंसे इस तरह बतानेमें तो २ माह लग जायेंगे, पर इतना न अवकाश है, और न किसी विषयको इतना लम्बा खींचना चाहिए तो यहां इतना समझ लो कि ज्ञानियोंका ज्ञान कैसा अलौकिक होता है, इसका मूल्य तो विवेकी, ज्ञानी, बुद्धिमान् ही समझ सकते हैं। भिल्लनियोंको जंगलमें गजमुक्ता भी मिल जाय तो उनका उपयोग वे पैरोंके घिसनेमें करेंगी। वे यही समझेंगी कि पत्थर है, पैर घिसें। वे मोती जिनका भिल्लनियां पैरमें घिसकर अपमान करती हैं क्या वे बड़ी-बड़ी पट्टरानियोंके गलेमें हार बनकर शोभा नहीं देते ? हम और आप अल्पज्ञानी पुरुष आध्यात्मिक मार्मिक शब्दोंका प्रयोग नहीं करते पर जिनको अध्यात्म मर्मका पता होता है वे एक-एक शब्दका इतना मूल्य करते हैं कि वे अपने सर्वस्वको कुछ नहीं गिनते।

ज्ञानियोंका ज्ञानप्रेम— आपने सुना होगा कि जब श्रीमद्राजचन्द्र जी को किसीने समयसारकी पुस्तक दी दूकान पर, तो थोड़ासा देखकर उस पुस्तककी न्यौछावरमें दूकान पर जो हीरा जवाहिरात रखे थे, उन हीरोंको दो खोबा भरकर दे दिया। ज्ञानके प्रेममें उन्होंने कुछ नहीं गिना और समझो कि लाखोंका धन दे दिया एक पुस्तकमें। यहां तो किन्हींको अगर कोई पुस्तक देवे तो विचार करेंगे कि इसकी कीमत ज्यादा है।

४ चार रुपया इसकी कीमत है। सवा दो रुपयेकी होगी, तीन रुपयेकी होगी। इस प्रकारसे एक पुस्तकके लेनेमें भ्रम करते हैं और उन राजचन्द्रजी को देखो, उन्होंने एक पुस्तकके पीछे लाखों रुपये दे दिये।

धुनोति— श्री अमृतचन्द्र सूरिने गाथावोंकी उत्थानिकामें जो अपना ज्ञान वैभव दिखाया है उसका भी कहां तक वर्णन किया जाये, और इस विषयमें ३-४ उदाहरण देकर आगेके विषयको कहेंगे क्योंकि यह विषय तो महीना डेढ़ महीनाका विषय है। एक-एक शब्द उनका अपूर्व मर्म से भरा हुआ है। जिस समय यह प्रश्न हुआ कि जीव नारकी बने, मनुष्य बने, देव बने, तो यह जीव न्यारा-न्यारा है या सब एक-एक ही जीव बराबर यों चले जा रहे है। तो कुछने कहा कि जीव तो वही एक अनन्य है। तो कुछने कहा कि वे तो सब भिन्न-भिन्न जीव हैं। पहिलेसे कोई ताल्लुक नहीं है। इस सम्बन्धमें अब फैसला देना था तो कहना यही चाहिए ना कि भाई वे अनन्य भी हैं, अन्य भी है ऐसा कहते है। ऐसा न कहकर इन शब्दोंकी कहा कि अब एक जीवके अनन्यपने और अन्यपनेके निषेधको धुनते हैं। जैसे रुई धुननेसे मललेश नहीं रहता है, सब निकल जाता है। शुद्ध रुई बन जाती है। इसी प्रकार इस जीवके अन्यपने और अनन्यपने के विवादने जो दूषित वातावरण बनाया था, आचार्य महाराज कहते हैं कि उन सब निषेधोंका धुनन करते हैं, सिद्धान्तपक्ष स्थापित करते है।

स्याद्वाद और हठवाद— भैया! हठोंका धुनना स्याद्वादके द्वारा ही हो सकता है। अब स्याद्वादको बताना चाहिए। सो "समस्त विवादोंका निषेध करने वाला सप्तभंगी है उसको कहते हैं" यों इस उत्थानिकामें कहना था। तो उसके एवजमें क्या कहते हैं कि समस्त विसम्वादोंको दूर करने वाले सप्तभंगीका अब अवतार करते हैं। इसमें रहस्य क्या आया? कहीं सप्तभंगी कानून बनाया नहीं गया, गढ़ा नहीं गया, पदार्थ ही इस किस्मका है। इस कारण अब जाननेका उपाय भी उस ही के अनुरूप बनाया जा रहा है। अब तो प्रजा लोग जिस प्रकारसे चल रहे हैं, चलना चाहिए उस प्रकारका कानून बने और एक अपनी ओरसे कानून बनायें तो उस पर प्रजाको चलाया जाय, इन दोनोंमें अन्तर है। इसी प्रकार स्याद्वाद और हठवादमें अन्तर है। कानून बनाकर प्रजाका चलानेको क्या आवश्यकता है? प्रजा जिस तरह सुख शांतिमें रह सकती है और रहती है उस प्रकार का कानून बनाना तो ठीक है, पर एक मनमें आए अजी ऐसा कानून बना दिया और प्रजाको इस पर डंडेके बलसे चलाया तो यह कोई बुद्धिमानी नहीं है। हठवाद कानून बनाकर वस्तुका उस मार्ग पर चलाना चाहता है

और स्याद्वाद वस्तुवोंमें जैसी बात पड़ी हुई है उसको देख करके उसका विकास कराता है। यह है हठवाद और स्याद्वादमें अन्तर। इस मर्मको बतानेके लिए यह कहा गया है कि अब सप्तभंगीका अवतार करते हैं। इसी प्रकार अनेक शब्द हैं।

प्रथम मनोरथ स्थान— ऐसे मर्मके शब्दोंका प्रयोग करने वाले श्री अमृतचन्द्रजी सूरि इस गाथामें मनोरथ स्थानका अभिनन्दन कर रहे हैं। इसमें पहिले तो यह बताया कि हमारा मनोरथ स्थान श्रामण्य है, समता परिणाम है, इससे ही हमारे सर्वइष्टोंकी सिद्धि है। देखो जीव सब एक समान हैं। एकेन्द्रिय, निगोद और सिद्ध सब एक समान हैं। किन्तु निगोदोंकी और सिद्धोंकी समानताकी दुहाई देने वाले पुरुष अपने पड़ौसियोंको भी समान नहीं निरख सकते हैं तो वह समता कहां गई? धन्य हैं वे ज्ञानीजन कि चाहे लड़ाईमें भी विरोधीके प्रति प्रत्याक्रमण किया जा रहा है तब भी यह संस्कार नहीं हटता कि जैसा मैं जीव हूं तैसे ही ये जीव हैं, स्वरूप एक समान हैं। साधुजनोंका तो समताका ही जीव है। श्रामण्यमें सर्वमनोरथकी सिद्धि है, कोई थोथी कल्पना ही नहीं उठती, फिर वहां अमनोरथ क्या रहा?

द्वितीय मनोरथ स्थान— दूसरा मनोरथ स्थान बताया है दर्शन और ज्ञान। आत्माके दर्शन और ज्ञानस्वरूपकी दृष्टिमें सर्व मनोरथ सिद्ध होते हैं। यह मनोरथस्थानभूत दर्शनज्ञान शुद्धोपयोगीके ही हो सकता है।

तृतीय मनोरथ स्थान— तीसरा मनोरथ स्थान कहा कि जो निर्विघ्न बढ़ रहा दिव्य स्वभाव है ऐसा निर्वाण मोक्षपद यह हमारा सर्व मनोरथ स्थान है।

चतुर्थ मनोरथ स्थान— फिर इसी मनोरथ स्थानको यह निर्वाण है, यह सिद्ध है ऐसा भेद न देकर जो भगवान् सिद्ध हैं शुद्ध हो हैं बस वही मेरा मनोरथ स्थान है।

आन्दोलन— इस प्रकार मनोरथ स्थान चतुष्टयका वर्णन करके अब आचार्य महाराज कहते हैं कि बहुत वचनोंके विस्तार करनेसे लाभ क्या वाग्विस्तार समाप्त करें। बहुत बातें बातनेका समय नहीं है। किसी महान् आन्दोलनके लिए अथवा असहयोगके लिए, सत्याग्रहके लिए अन्तमें कहा जाता है ना कि अब बातनेका टाइम नहीं है, कुछ करके दिखावो। जैसे यहां जब किसी विदेशीका राज्य था और उसे गुलामी समझते थे। उसको हटानेके लिए यहां बड़ा आन्दोलन चला। आन्दोलनके दो अंग होते हैं। (१) सत्याग्रह और (२) असहयोग। इन दोनोंके समूहका नाम है आन्दो-

लन। जैसे झूलामें आन्दोलन होता है। बैठने वालेको आफत आ जाती है। अब पीछे भगा, अब आगे भगा। जरासा पैर हट जाय कि डंडेसे गिर पड़े, चोट लग जाय। जैसे वहां झूलेमें आन्दोलनसा होता है, यहांसे भगा वहां पहुंचा, वहांसे भगा यहां पहुंचा। सो यहांसे वहां और वहांसे यहां दो दिशावोंमें बढ़नेका नाम आन्दोलन है। इसी तरह किसी भी कार्य सिद्धिमें दो आन्दोलन होते हैं। आन्दोलनकी दो दिशाएँ होती हैं, (१) असहयोग और (२) सत्याग्रह।

कठिन गुलामी— भैया ! वह गुलामी कोई बड़ी गुलामी नहीं थी, पर लोगोंने उसको बड़ी गुलामी माना। जैसे कि आजकल देखो कहीं भी ठीक-ठाक न्याय नहीं होता। सो लोग कहते हैं कि अबसे तो पहिले ही अच्छा था ! कोई कुछ कहता, कोई कुछ। इससे कुछ मतलब नहीं है पर बात यह समझो कि वह कोई गुलामी न थी। चिंतनीय गुलामी तो यह है कि अनन्त आनन्दमय स्वभावका होकर भी आज यह दीन, भिखारी, आशावान, शरीरका बंधा, फंसा चला जा रहा है। इस गुलामीको मेटने की सबसे बड़ी समस्या सामने है। इन राग द्वेषोंके सुलझानेमें क्या रखा है ? कौनसी आफत आ गई ? मौजमें हैं इसलिए आफतें बना ली हैं और जरा खानेका भी सेजा ढंगका न हो तो आफतें कम हो जायेंगी। मगर खूब मौजमें हैं, खूब खानेके साधन हैं, ओढ़नेके, सभामें पोजीशनके सभी साधन हैं, आराम हैं इसलिए आफतें बनाते चले जा रहे हैं। अमुक आदमी यों क्यों मेरे सामने बैठ गया, अमुक यों क्यों दृष्टि देता है ? अब बड़ा दुःख हो रहा है और भीतरमें क्रोधाग्नि ज्वलित हो रही है। क्या संकट आ गए बता नहीं सकते। क्योंकि संकटोंके मूलमें कोई दम हो तो बताया भी जाय। सो बताया भी नहीं जाता और आफतें छोड़ी भी नहीं जातीं। ऐसी कठिन स्थिति है पुण्य वालोंकी।

सर्वमनोरथ स्थान प्राप्तिका उपाय— कहते हैं कि वचनोंके विस्तार से लाभ क्या है ? खत्म करें बोलना। अब क्या करते हैं कि निर्णय तो कर चुके हम कि मनोरथका स्थान कौन है ? अब तो उस मनोरथ स्थान को प्राप्त कर लिया जाय। कैसे प्राप्त किया जाय ? प्राप्तिका तो बड़ा सरल काम है। सर्वमनोरथ स्थानको नमस्कार कर लिया जाय। मिल जायगा तुरन्त। यह तो बड़ी सरल तरकीब बताई कि मनोरथ स्थानोंको नमस्कार कर लेने मात्रसे वह मनोरथ स्थान मिल जायेगा। यह तो बहुत सरल मार्ग बताया। हां सरल तो है पर कहना सरल है, करना सरल नहीं है। जैसे कहते हैं कि चेला बनना तो सरल है पर दक्षिणा देना तो सरल नहीं है।

उस प्रभुको जो समस्त मनोरथ स्थानका स्वामी बनता है उसको भाव नमस्कार किया जावे मुझपर भिन्न कोई भगवान् प्रसन्न न होगा, कोई हाथ पकड़कर उद्धार करने न ले जायगा। तुम्हारा ही अन्तरंग भगवान् तुम पर प्रसन्न हो जाय, निर्मल हो जाय तो यही मनोरथका स्थान बन गया। ऐसे उस शुद्धस्वरूपको उपयोगमें स्व परका विभाग खत्म करते हुए भावनमस्कार किया जाय।

प्रभुसे दूर होनेका कारण विशेषताका व्यवहार-- भैया! जहां विशेषताएँ की जाती हैं वहां भेद बढ़ता चला जाता है, भगवान्को तू तू करके पुकारो, तू ऐसा है, तू ऐसा है तो कितनी खुशी बढ़ती है, और निकटवर्तीपना स्पष्ट होता है। अब जरा तू से और उनकी विशेषता बढ़ा दीजिए, "तुम" बोलने लगे। हे नाथ! तुम ऐसे हो, तुम ऐसे हो तो अंदाज कर लो कि तुमने भगवान्को कुछ दूर कर दिया और फिर जरा यों बोलिए कि हे भगवान! आप यों हैं, आप यों हैं, तो भगवानको और दूर कर दिया। भगवानकी जितनी विशेषता की जायगी उतना ही वह दूर होता चला जायगा। प्रभु विशेषतावोंसे राजी नहीं है। विशेषतामें तो मोही जीव राजी हैं। उनको तो अगर तू तू करके पुकारें तो वे मोही जीव लाठी लेकर खड़े होंगे और अगर आप कहकर पुकारें तो आपको भोजन का थाल भेंट करेंगे।

विशेषित शब्दोंसे आत्मीयताके भावका प्रक्षय-- हे प्रभो! आप "आप" के आशयसे दूर पहुंचते हैं और तू के आशयसे निकट आते हैं। कोई पुरुष जब उसका प्यारा भैया, साला, बहनोई, मित्र कोई आ जाय तो निःसंकोच उससे तूकारीसे बात होती है और उसका कोई मालिक आ जाय, बड़ा आ जाय तो उससे "आप" शब्दसे बात होती है। जिससे 'आप' कहा जा रहा है वह स्वयंमें मिला नहीं है और जिसको 'तू' कहा जा रहा है वह स्वयंके अत्यन्त निकट है और जरा अब आपसे हटिए, तू से हटिए और फिर अपनेमें आइए। प्रभु अपन तो एक ही स्वभावके हैं। तू से भी निकट आ गए। जैसे बोलते हैं कि आप चलिएगा, आप चलें। तुम चलो, तू चल, अपन चलें। कितना अन्तर अपनमें पड़ा हुआ है? तो इस तू से और निकट आकर अपन तक आइये और अभी अपनमें भी द्वैतबुद्धि है। ख्याल तो है कि हम ये हैं और ये ये हैं, पर इससे भी और निकट आकर वह अपन एक रह जाय या तू रह जाय, या मैं रह जाऊं। तू रखनेमें तो समाधि है नहीं क्योंकि बोलने वाला यह है और तू का ध्यान है इसलिए वहां समाधि नहीं जगती। यद्यपि हे प्रभु! तुममें मैं हूं

और मुझमें तू है ऐसी हमारी आपकी परम मित्रता है। लेकिन इसको क्या करते कि बोलने वाला यह है और तू का एक ध्यान रखें तो वहां दो बातें रहेंगी। जैसे कोई अपना मित्र घर पर आये और उससे कहो कि भैया भोजन करलो, तो वह कहता है कि अजी यह भी अपना घर है, इस घरका भी अपना ही भोजन है और उस घरका भी अपना ही भोजन है। इसी प्रकार कोई बात हो तो वह कहते हैं कि अजी यह भी आपकी बात है और वह भी आपकी बात है।

सभ्यतामें स्वामित्ववादका दुरुपयोग-- एक घटना ऐसी हो भी गई कोडरमामें। बहुत पहिले एक अंग्रेज था। अंग्रेज यद्यपि बेईमान नहीं होते मगर वह अंग्रेज थोड़ीसी बेइमानी कर गया। एक बहुत बड़ी जगह का मैदान था। वहां दो आदमियोंमें झगड़ा चल गया। एक कहता कि यह हमारी जमीन है और दूसरा कहता कि हमारी जमीन है। सो वह अंग्रेज निरीक्षण करने के लिए आया। अंग्रेज ने एकसे पूछा कि यह किसकी जमीन है तो वह बोला हजूर आपकी है। बोला, लिखो आपकी जमीन है। उसने लिखवा लिया और दस्तखत करवा लिया। वह जमीन उस अंग्रेज को मिल गई। फिर उन दोनोंकी वह जमीन नहीं रही। उस जमीनको हम देख आये हैं तो यहां तू का भी भेद एक शल्य वाला बनाये रहता है इससे या तो तू रहे या मैं रहूं। सो तू का भेद तो समाधि बनाता नहीं, पर प्रभो! एक मैं रह जाय तो तेरे स्वरूपकी जुदाइगी भी नहीं रहती और यह अभेद समाधि बनती है और जिस समताका और मित्रताका जो फल बताया है वह फल भी प्राप्त हो जाता है।

मनोरथस्थानको भावनमस्कार-- यहां इस मनोरथस्थानका अभिनन्दन करते हुए मैं ऐसा अन्तिम प्रणाम करो, ऐसा उसका भाव नमस्कार हो कि जहां स्व और परका विभाग न रह सके। यह बात कब होगी जब उस मनोरथके स्थानभूत मोक्षतत्त्वके स्थानतत्त्वका परस्पर अंगअंगी भावों से परिणत भाव्यभावकपना हो जायेगा। वह मनोरथस्थान सिद्ध शुद्ध अवस्था है और यह भक्ति उपकार ये दोनों परस्पर अंग अंगी बन जायेंगे लक्ष्य और लक्षण दृश्य और दर्शक, इस तरहसे जब एकमेक हो जाय कि कभी अंगी दृश्य बने तो कभी अंगी दर्शक, कभी अंग दृश्य बने तो कभी अंग दर्शक। यों फिर यह अंगअंगी परिवर्तन भी समाप्त हो जाय ऐसा भावनमस्कार सर्व मनोरथस्थान तत्त्वको होओ।

निजगृहका अपरिचय-- भैया! इस जीवने आज तक अपने घर का परिचय ही नहीं पाया। जगह-जगह डोल डोलकर, बाहरमें आंखें गड़ा-

प्रेसीडेन्टमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह कीड़ा मकौड़ा बना दे। यह तो हम प्रभुयोंकी कला है कि कहो कीड़ा बन जाएँ, कहो पेड़ बन जायें। तो ऐसी अनोखी कलाको कौन खेल सकता है ? इस प्रभुमें ही ऐसी सामर्थ्य है, ऐसी कला है कि जो चाहे वह अपनेको बना सकता है। पर इस कला से तुम आनन्द नहीं पा सकते हो। इसलिए इस कलाको बदल कर और एक स्वभावदृष्टिकी कला भी खेल जाइए।

स्वभावदृष्टिका प्रसाद— स्वभाव दृष्टिकी कलाके प्रसादसे तू अनंत काल तक अनन्त आनन्दमय रहेगा। जो ऐसा होता है वह ही मेरे मनोरथका स्थान है। उन सर्वमनोरथोंके साधनभूत मोक्षतत्त्वके साधनतत्त्व को लो अब बोलना, चालना कुछ नहीं है। इस तरह ही समय गुजार दिया तो इस अमूल्य नरजीवनके क्षण निकल जायेंगे। अब तो यों एक चित होकर, स्व और परका विभाग तोड़कर उन शुद्ध प्रभुको, शुद्ध आत्मतत्त्वको, ज्ञायकभावके मनोरथस्थानको नमस्कार हो।

ग्रन्थसमाप्तिका संकेत— यह प्रवचनसार ग्रन्थकी द्विचरम गाथा है अर्थात् यह ग्रन्थ यहां ही समाप्त होना है। इसके बाद फिर यहां समाप्त किया जाता है इस प्रकारकी बात कही जाती है। जैसे सभा जुड़ी है। सब काम हो चुका और काम हो चुकनेके बाद मंत्री खड़ा होकर कहता है कि अब सभा विसर्जित की जाती है, सभा समाप्त की जाती है। तो यह बतलावो कि सभा समाप्त मंत्रीके कहनेके बाद हुई कि मंत्रीके कहनेके पहिले ही हो गई ? सभा पहिले ही समाप्त हो गई। अब समाप्त हुई सभा को बतानेके लिए वह मंत्री खड़ा होता है तो वह समाप्त नहीं करता। इसी प्रकार प्रवचनसारका ग्रन्थ तो यहां पर समाप्त होता है पर उसकी समाप्ति का निर्देशन करने वाली एक गाथा और आयेगी और जो बहुत उपादेय प्रकरण हो वह समाप्त होकर भी समाप्त नहीं कहलाता है। यह भी एक अनोखी बात है और इसी कारण इसके बादकी आने वाली गाथा पंचमरत्न कहलायेगी।

समाप्तिके निर्णयमें भी असमाप्ति— अच्छा तो इस पंचमरत्नका वर्णन करनेके बाद फिर तो ग्रन्थ समाप्त हो जायगा ना ? नहीं। फिर भी समाप्त न होगा। इसके बाद फिर अमृतचन्द्र सूरि फिर परिशिष्ट बोलेंगे। उसमें भी महीनों लगेंगे। तो परिशिष्ट बोल चुकनेके बाद क्या ग्रन्थ समाप्त समाप्त होगा ? फिर भी न समाप्त है। फिर इसके रुचिया अपने मनमें गुनगुनाते रहेंगे। यह समाप्त होगा क्या ? नहीं। अगर यह समाप्त हो जाय तो लुटिया डूब जायेगी। कभी यह ग्रन्थ समाप्त होगा क्या ? नहीं।

पर यहां बतलाते हैं कि सभा तो समाप्त करना ही पड़ेगा क्योंकि अब रात्रिके ११ बज गए हैं। मगर सभाकी बात तो लोग लेकर जायेंगे और गुनगुनायेंगे। अभी सभा समाप्त नहीं हुई। इसी कारण एक गाथा पंचमरत्नके रूपमें आ रही है।

चार रत्नोंके वर्णन करनेके बाद यह पंचमरत्नका प्रकरण आ रहा है। इस पंचमरत्नका नाम है शास्त्र पढ़नेका फल। अब शिष्यजनोंको शास्त्रके फलसे युक्त करते हुए शास्त्रको समाप्त करते हैं।

बुज्झदि सासणमेयं सागारणगारचरियजुत्ताणं।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि ॥२७५॥

जो पुरुष साकार और अनाकारचर्यासे युक्त होता हुआ इस भगवंत प्रणीत शासनको समझता है वह थोड़े ही समयमें प्रवचनके सारको प्राप्त करता है।

जिनशासनकी समझ— भगवत् प्रणीत शासनको समझनेकी पद्धति क्या है? केवलका, आत्मतत्त्वका अनुभवन करना सो जिनेन्द्र शासनके सारको समझनेकी पद्धति है। जितना भी आनन्द प्रकट होता है वह जिसके आधारसे प्रकट होता है उसका अनुभव करना ही सार पुरुषार्थ है। वह आनन्द प्रकट होता है अपने आत्मासे। अतः केवल अपने आत्माका अनुभवन हो जाय तो इस पद्धतिसे वह शासन समझमें आता है। वीतराग जिनेन्द्रदेव कहते क्या हैं? क्या कह रहे हैं, यह बात जब विशद् समझमें आती है तब अपने आत्माका अनुभव होता है। ओह! भगवान्के उपदेशमें यह सर्वनिरूपण इसके लिए किया गया है, जो आत्मानुभवमें आनन्दकी स्थिति है उसको पानेके लिए भगवत् जिनेन्द्रका उपदेश है।

आत्मानुभवकी योग्यताका अवसर—आत्माके अनुभवनकी योग्यता कब होती है जब समस्त शास्त्र और अर्थका विस्तारात्मक या संक्षेपात्मक श्रुत ज्ञानका उपयोग किया जाय और उससे ज्ञानका प्रताप निकले तो उस ज्ञानके प्रतापके द्वारा निज आत्मतत्त्वका अनुभव होता है। जो शिष्य वर्ग इस ज्ञानोपयोगके बलसे ज्ञानमात्र, आनन्दमय आत्मतत्त्वका अनुभव करते हुए जिनशासनको समझते हैं वे थोड़े कालमें भगवान् परमात्माको प्राप्त करते हैं। आत्मानुवके लिए केवल ज्ञान ही ज्ञान न चाहिए किन्तु आचरण भी साथ चाहिए और यह बाहरी आचारण नहीं, किन्तु अन्तरमें ज्ञानके द्वारा ज्ञानसे ज्ञानरूप करनेका आचरण। इस अंतरंग आचरणकी योग्यताको वही पुरुष प्राप्त होता है जिस पुरुषका बाह्य आचरण पवित्र हो, क्योंकि जिसका बाह्य आचरण पवित्र नहीं है उस पुरुषको अन्तरङ्ग

योग्यताकी प्राप्ति नहीं होती है। जिस पुरुषकी खोटी स्थिति है, जिसका अंतरङ्ग मलिन है ऐसे पुरुषमें आत्मानुभवकी योग्यता नहीं हो सकती है। अतः साकार और अनाकार चर्या भी होनी चाहिए।

साकार व अनाकारचर्या—साकारचर्या तो है गृहस्थकी और अनाकारचर्या है मुनिकी। साकारचर्या अर्थात जिसका आकार स्पष्ट नजर आए, पूजा हो रही, विधान हो रहे ये आकार गृहस्थोंके समझमें आ रहे हैं और जो मुनियोंकी चर्या है उसका क्या आकार ? मुनि तो अकेला है, अन्तरमें ध्यान लगा रहा है। ज्यादासे ज्यादा देखने वाले आकारकी चर्या होगी, तो देख भाल कर चल रहे हैं, पीछीसे जीव जन्तुओंको बचा रहे हैं, इतनी ही तो चर्या दीखेगी। पर गृहस्थोंकी चर्या तो बीसों पद्धतियोंमें दीखेगी। अब हवन हो रहा है, सेरों घी खतम किया जा रहा है, अब ऐसा इन्द्र बन रहा है, गाजे बाजेसे अब जल कलश हो रहा है, यह चर्या गृहस्थोंमें मिलेगी, इसलिए गृहस्थोंकी चर्याको साकार चर्या कहते हैं और मुनिकी चर्याको अनाकारचर्या कहते हैं।

साकार व अनाकारचर्याको बहिरङ्ग और अन्तरङ्गचर्या भी कहिए। जो बहिरङ्गचर्या है वह तो है गृहस्थोंकी साकारचर्या और जो अंतरङ्गचर्या है वह है मुनिकी अनाकारचर्या। जो अंतरङ्गमें ज्ञान द्वारा चर्या चले वह है अनाकारचर्या और जो बहिरङ्ग ज्ञानके द्वारा चर्या चले वह है साकारचर्या। साकार और अनाकार दोनों चर्याओंसे युक्त होता हुआ जो शिष्यवर्ग ज्ञान प्रतापसे अपने आत्माका अनुभव करता हुआ जैनशासन को जानता है वह थोड़े ही कालमें भगवान आत्माको प्राप्त कर लेता है। ये तो है साकार और अनाकारचर्या।

स्वचर्याका मौलिक साधन—विशुद्ध जो ज्ञान दर्शनमात्र आत्मस्वरूप है उसमें उपयोगवृत्ति व्यवस्थित रहे उससे अपने आपको जो समाधान मिलता है उस समाधानके कारण पवित्रचर्या मिलती है। समाधान किसे कहते हैं ? अपनी उलझनें अपने आपमें ही खत्म होकर निर्णय बैठ जाय उसका नाम है समाधान। समाधान मायने अच्छी तरह रख देना। समाधान शब्दका यह अर्थ है कि अच्छी तरह धर देना। मायने कोई परेशानी और शंका थी, उससे यह उपयोग उछला उछला फिर रहा था क्योंकि निर्णय अच्छा मिला नहीं। तो निर्णय मिल जानेके बाद यह उपयोग फिर अच्छी तरह अपने आपमें ठहर जाता है उसे कहते हैं समाधान। जब तक समाधान नहीं होता तब तक कितने झंझट रहते हैं और जब समाधान हो जाता है तो शांति वर्त जाती है। तो उत्कृष्ट समाधान वहां ही

हो सकता है जहां आत्माके शुद्ध दर्शन ज्ञानके स्वरूपमें उपयोग जाये। उस समाधानसे इसकी योग्य चर्या हुई, उस चर्यासे युक्त होकर इसने अपना उपयोग ज्ञानरूप बनाया, आत्माका अनुभव भी किया तो जैनशासनका मर्म भी समझा।

भगवान आत्माका उपलम्भ व अनुपलम्भ— वह कैसे भगवान आत्माको प्राप्त करता है? जिसको आज तक प्राप्त नहीं किया था। जिसका अनुभव अब तक नहीं हुआ ऐसे भगवान आत्माका वह अनुभव करता है। बड़े क्लेश हैं इस संसारमें। संगत जीवोंसे कोई वास्ता नहीं मतलब नहीं। किस गतिसे कौन आया है, किस गतिको कौन जायेगा? कोई सम्बन्ध नहीं। समस्त परजीवोंसे मेरा अत्यन्ताभाव है। द्रव्यका सम्बन्ध नहीं, गुणका सम्बन्ध नहीं, पर्यायका सम्बन्ध नहीं, फिर भी एकांकी नाटक खेला जा रहा है। "मान, न मान, मैं तेरा मेहमान" जैसी बात चल रही है। तू मुझे अपना मान या न मान, पर मैं तो तुझे अपना मानता हूं। हे ईंट पत्थर तू मुझे अपना मान या न मान पर मैं तो तुझे अपना मानता हूं। अरे जैसे ये ईंट पत्थर धन दौलत परपदार्थ हैं इसी प्रकार यह जीव भी अत्यन्त भिन्न परपदार्थ है। कल्पनामें जिसे मान रखा है— यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है, हे जीव! तू मुझे मान या न मान, पर मैं तो तुम्हारे ही लिए बिक चुका हूं। इस भ्रमजालमें भगवान आत्माका अनुपलम्भ हो रहा है। जीवकी यह परिस्थिति है।

अनहोनीको होनी करनेका व्यर्थ यत्न—भैया! मानना कोई किसी की नहीं है क्योंकि प्रत्येक जीव अपने ज्ञानसे, अपने परिणमनसे अपने आपमें अपने को विकल्पित करते हैं। वस्तुस्वरूप परके द्वारा अभेद्य है कोई किसीका कुछ नहीं कर सकता है, न कोई किसीको अपना बना सकता है। हे समस्त परपदार्थों! तुम लोगोंमें ताकत नहीं है कि हमको कुछ समझ सको, कुछ मान सको पर हममें वह शूरता है कि मैं सारे पदार्थोंको अपना मान सकता हूं। ऐसे संसारकी सुभटतासे खेलने वाला यह अनाड़ी संसारी प्राणी दर-दर जन्ममरणके दुःख भोगता फिरता है। इस जीवने विषयभोगकी कलाएँ तो खूब अनुभूत की हैं। कैसा मीठा हलुवा, लड्डू होता है। खूब खबर है लड्डू पेड़ोंकी। जरासी चर्चा चल जाय तो गलेमें पानी भर आये। इतनी अधिक विषयोंकी अनुभूति है। पर आत्मतत्त्वकी बात तो गले भी नहीं उतरती, इतनी उपेक्षा है।

प्रभुताका दर्शन— इस भगवान आत्माका जब अनुभव होता है तो यह अनुभवी महात्मा अलौकिक दुनियामें पहुंच जाता है। इसी आत्मानु-

भवका नाम परमार्थ परलोक है। जैसे किसी पुरुषका मरण हो जाय तो वह परलोक पहुंच गया, इसी प्रकार किसी जीवको यदि आत्मानुभव हो जाय तो समझो कि वह परलोक पहुंच गया। परलोकका अर्थ है उत्कृष्ट लोक। तो ऐसा अननुभूतपूर्व भगवान आत्मतत्त्व है उसको यह ज्ञानी प्राप्त करता है। कैसा है वह भगवान आत्मा? अपनी दृष्टिसे अपने आपके द्वारा अपने आपमें ही जो प्रतिफलित होता है ऐसे अलौकिक दिव्य ज्ञानानन्द स्वभाव वाला यह भगवान आत्मा है। इस भगवान आत्मामें और व्यक्त भगवान आत्मामें जिस क्षण भेद नजर नहीं आता, एक ज्ञानज्योति मात्र अनुभवमें रहता है उस समय यह भगवानका सच्चा उपासक है, आत्मानुभवी है। ऐसे दिव्य ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्माको उपयोग में ले लेना यही सर्वसार व्यवसाय है। प्रवचनका सारभूत इतना मर्म है।

प्रयोजनकी सिद्धि व सन्तोष— जैसे आमंत्रणकी, बुलावाकी, पार्टी करनेकी इन सबकी सारभूत बात इतनी है कि प्रीतिभोज हो जाय, भोजन मिल जाय। इन सारे नटखटोंका सार इतना है कि बढ़िया भोजन मिल जाय। और कहीं बढ़िया भोजन न मिला तो उस समारोहमें शामिल होने वाले लोग, बारातमें पहुंचने वाले लोग यह कहते जाते हैं कि व्यर्थमें वहां गए। वहां तो टी भी न थी। भोजन भी न था, किसी मनुष्यका जो प्रयोजन है उस प्रयोजन की पूर्ति तो उस मनुष्यकी करें नहीं और यहां वहांकी बातें मारें तो उसे संतोष न होगा। इस प्रवचनका सारभूत तो आत्मानुभव है, इस आत्मानुभव की बात न कर पायें और ज्ञानकी कलावों व लीलावों का ही खेल करें तो उससे संतोषकी बात न मिलेगी। शास्त्रोंके स्वाध्याय का फल है आत्मानुभव।

आत्मीयका भरोसा— समस्त पदार्थसमूहका वर्णन करने वाले प्रवचनका सार और यह फल सारभूत अनुभव अमर्यादित और अनन्तकालतक प्रवाहरूपसे ठहरने वाला है। कौनसी ऐसी चीज है जगत्में जो अनन्तकाल तक रहेगी? यह सब मौज तो कुछ ही क्षण ठहरता है। धन वैभव, परिवार, इज्जत ये समस्त बातें क्षणभर ही ठहरती है। परन्तु आत्माका ज्ञानरूपमें उत्पन्न हुए अनुभवसे उत्पन्न जो आनन्द है वह आनन्द अनन्तकाल तक अवस्थित रह सकता है। जो अपनी चीज है वह अपने पास निर्बाध रह सकती है। जो पराई चीज है, आगेकी वस्तु है वह अपने पास निर्बाध नहीं रह सकती है। उसे तो देना ही पड़ेगा। इसी प्रकार ये सुख दुःख, रागद्वेष, इष्ट अनिष्ट ये भाव मांगेके हैं, ये हमेशा रह नहीं सकते हैं किन्तु अपना स्वरूप और अपने ही स्वरूपके कारण होने

केवलज्ञान और आनन्द यह अपनी चीज है, यह अपने पास सदा निर्बाध रह सकती है।

तत्त्वज्ञानसे ही क्लेशका यथार्थ बोध व विनाश— पागलकी पगलाई पागल क्या जान सकता है ? इसी प्रकार मोही जीवके मोहकी गहलताको मोही जीव क्या पहिचान सकता है ? जो निर्मोह है वही पुरुष मोहकी भूल को भूल समझ सकता है। हम अपने आपके प्रदेशके किलेमें बैठे हैं, बाहर कहीं जाते नहीं हैं किन्तु अपने ही किलेमें बैठे-बैठे विकल्पोंका क्षोभ मचाया करते हैं। अन्य पदार्थ मेरी कुछ पूछ नहीं करते। अन्य पदार्थ मुझे कुछ बाधा नहीं करते पर मैं अपने सुरक्षित किलेमें बैठा हुआ भी अपनी कमजोरीसे अपने आपमें नाना कल्पनाएँ करके दुःखी हो रहा हूं। उस दुःखको मिटानेमें समर्थ यह तत्त्वज्ञान है। जो इस तत्त्वज्ञानके बलसे निज आत्मतत्त्वका अनुभव करता है वह आनन्दमय निज भगवान आत्माको प्राप्त करता है।

प्रवचनसारकी झलक— यह प्रवचनसार है। ज्ञेयभूत परमात्मादिक पदार्थोंके द्वारा साध्य जो निर्विकार स्वसम्वेदन ज्ञान है उसका और तत्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनका और तद्विषयक अनेकांतात्मक परमात्मादिक द्रव्यका व्यवहारसम्यक्त्व द्वारा साध्य निश्चय सम्यक्त्वका व्रत, समिति, गुप्ति आदि चारित्र और व्यवहार चारित्र द्वारा साध्य वीतरागचारित्रका सबका प्रतिपादक यह प्रवचनसार ग्रंथ है। इस प्रवचनसारमें तीन अधिकारोंमें कहांसे कब कैसा उपदेश उठाया है कि जैसे नींव भरने वाला कारीगर विधिपूर्वक ईंट पत्थरोंको ठोस जमाता हुआ ऊपर बढ़ता जाता है, इसी प्रकार पहिले ज्ञानस्वभावके प्रकाशके लिये ज्ञानाधिकार बताकर जिसके बल से कल्याणकी रुचि जगे, फिर ज्ञेयभूत पदार्थोंकी असलियतबताकर जिससे उपयोग और दृढ़ हो, फिर उपयोगदृढ़ताके पश्चात् इसका चारित्र अनुकूल बने, यों ज्ञानाधिकार, ज्ञेयाधिकार और चारित्राधिकारका क्रमशः वर्णन किया है। ऐसा यह प्रवचनसार नामक शास्त्र है। इसको जो भक्त पुरुष अनुभूत करेगा वह भगवान आत्माको अवश्य प्राप्त करता है।

उद्देश्यसहित व्यवहारप्रवर्तन— भैया ! निश्चयकी बात घंटों नहीं की जा सकती है, न निश्चयका पालन घंटों किया जा सकता है। वह तो एक बिजली जैसी झलक है, हो गई। पर करना क्या पड़ेगा ? व्यवहारकी चर्या। वह है दो प्रकारकी— (१) गृहस्थकी और (२) मुनिकी। पर प्रत्येक चर्यामें यदि उद्देश्य सही है तब तो वह चर्या है और उद्देश्य सही नहीं है तो वह चर्या नहीं है। नाव खेने वाला नाविक यदि अपना उद्देश्य बनाकर

भवका नाम परमार्थ परलोक है। जैसे किसी पुरुषका मरण हो जाय तो वह परलोक पहुंच गया, इसी प्रकार किसी जीवको यदि आत्मानुभव हो जाय तो समझो कि वह परलोक पहुंच गया। परलोकका अर्थ है उत्कृष्ट लोक। तो ऐसा अननुभूतपूर्व भगवान आत्मतत्त्व है उसको यह ज्ञानी प्राप्त करता है। कैसा है वह भगवान आत्मा? अपनी दृष्टिसे अपने आपके द्वारा अपने आपमें ही जो प्रतिफलित होता है ऐसे अलौकिक दिव्य ज्ञानानन्द स्वभाव वाला यह भगवान आत्मा है। इस भगवान आत्मामें और व्यक्त भगवान आत्मामें जिस क्षण भेद नजर नहीं आता, एक ज्ञानज्योति मात्र अनुभवमें रहता है उस समय यह भगवानका सच्चा उपासक है, आत्मानुभवी है। ऐसे दिव्य ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्माको उपयोग में ले लेना यही सर्वसार व्यवसाय है। प्रवचनका सारभूत इतना मर्म है।

प्रयोजनकी सिद्धि व सन्तोष— जैसे आमंत्रणकी, बुलावाकी, पार्टी करनेकी इन सबकी सारभूत बात इतनी है कि प्रीतिभोज हो जाय, भोजन मिल जाय। इन सारे नटखटोंका सार इतना है कि बढ़िया भोजन मिल जाय। और कहीं बढ़िया भोजन न मिला तो उस समारोहमें शामिल होने वाले लोग, बारातमें पहुंचने वाले लोग यह कहते जाते हैं कि व्यर्थमें वहां गए। वहां तो टी भी न थी। भोजन भी न था, किसी मनुष्यका जो प्रयोजन है उस प्रयोजन की पूर्ति तो उस मनुष्यकी करें नहीं और यहां वहांकी बातें मारें तो उसे संतोष न होगा। इस प्रवचनका सारभूत तो आत्मानुभव है, इस आत्मानुभव की बात न कर पायें और ज्ञानकी कलावों व लीलावों का ही खेल करें तो उससे संतोषकी बात न मिलेगी। शास्त्रोंके स्वाध्याय का फल है आत्मानुभव।

आत्मीयका भरोसा— समस्त पदार्थस्मृत्या वर्णन करने वाले प्रवचनका सार और यह फल सारभूत अनुभव अमर्यादित और अनन्तकालतक प्रवाहरूपसे ठहरने वाला है। कौनसी ऐसी चीज है जगत्में जो अनन्तकाल तक रहेगी? यह सब मौज तो कुछ ही क्षण ठहरता है। धन वैभव, परिवार, इज्जत ये समस्त बातें क्षणभर ही ठहरती हैं। परन्तु आत्माका ज्ञानरूपमें उत्पन्न हुए अनुभवसे उत्पन्न जो आनन्द है वह आनन्द अनन्तकाल तक अवस्थित रह सकता है। जो अपनी चीज है वह अपने पास निर्बाध रह सकती है। जो पराई चीज है, औरोंकी वस्तु है वह अपने पास निर्बाध नहीं रह सकती है। उसे तो देना ही पड़ेगा। इसी प्रकार ये सुख दुःख, रागद्वेष, इष्ट अनिष्ट ये भाव मांगेके हैं, ये हमेशा रह नहीं सकते हैं किन्तु अपना स्वरूप और अपने ही स्वरूपके कारण होने

नावको खेता है। मुझे तो उस किनारे पहुंचना है तो उसका नाव खेना सफल है और उद्देश्य तो बनाया नहीं किन्तु खेना है तो कभी पूर्वकी ओर नाव चलाई, कभी पश्चिमकी ओर चलाई, कभी उत्तरकी ओर और कभी दक्षिणकी ओर नाव चलाई जावेगी तो इस तरहसे वह किसी भी किनारे नहीं पहुंच पाता है और उसका नाव खेना सफल नहीं होता है।

अन्तिम रत्न शास्त्रफलका संयोजन-- आभ्यंतर रत्नत्रयमें शुद्ध स्वरूप उपादेय है। यह ज्ञानको जाने और उस ज्ञानको ही जानता रहे, ऐसी वृत्ति जगना ही अभेदरत्नत्रय है। ऐसी बात मानकर बहिरङ्गमें रत्नत्रयका अनुष्ठान करना सो साकार चर्या है। बहिरङ्गके रत्नत्रयके आधारसे अन्तरङ्ग रत्नत्रयमें गमन करना सो अनाकार चर्या है, निश्चयके लिए व्यवहार करना साकार चर्या है और व्यवहारके उपाय द्वारा निश्चयमें पहुंचना सो अनाकार चर्या है। इस प्रकार जो अपने बहिरङ्ग अंतरङ्ग आचरणके भूलेके दोनों ओर भूलता हुआ आत्मीय आनन्दके अनुभवका अनुष्ठान करता है वह पुरुष शास्त्रके फलको प्राप्त करता है। यों शास्त्रोंके फलमें लग जाना यह सारभूत बात है कि नहीं ? है। जो सार हो उसको रत्न कहते हैं। इसी कारण शास्त्रफलकी बात कहना एक रत्न है और इसको पंचम रत्नमें याने अन्तिम रत्नमें शामिल रखा है, जिसके बाद फिर कुछ कहनेकी गुञ्जाइश नहीं है। कह चुके, देख चुके।

अन्तिम शब्द— जैसे रत्नका मोल भाव सब बता दिया और कुछ लेन देनकी बात भी ठहर रही हैं, बातें हो रही हैं, अंतमें जब यह शब्द कहता है दुकानदार कि बस आखिरी बात यह है, इतनेमें लेना हो तो लो, बस इसके बाद बात समाप्त है। इस प्रकार सर्व रत्नोंका वर्णन करनेके बाद बताया है कि इस सब प्रवचनका, स्वाध्यायका सार इतना है कि अपने ज्ञानमय, आनन्दघन निज परमात्मतत्त्वकी अभेद उपासना करलो, इससे निज भगवान आत्माकी दृष्टि होती है। करना ही करना बाकी है। अब कहनेकी बात नहीं रही। इस तरह शास्त्रफलमें पंचमरत्नका वर्णन किया है। अब इसके बाद यह प्रकरण आयेगा कि आत्मा क्या है और वह कैसे प्राप्त किया जाता है ? इसे अमृतचन्द्र जी सूरिने स्वतंत्र होकर परिशिष्ट अधिकारके नामसे लिखा है।

❀ प्रवचनसार प्रवचन एकादश भाग समाप्त ❀

मुद्रक—मंत्री, शास्त्रमाला प्रिंटिंग प्रेस, रणजीतपुरी, सदर मेरठ।